अगर है शौक मिलने का

(जपयोग का रहस्य)
(Secret of Japa Yoga)
अजपा जाप

आत्मानन्द परमहंस

मूल्य दो रुपये मात्र

अगर है शौक मिलने का
जपयोग का रहस्य
(Secret of Japa Yoga)
(अजपा-जाप)

प्रथम संस्करण—२०००

पुस्तक मिलने का पता—

स्वामी आत्मानन्द परमहंस
प्रेम नगर आश्रम
पो० बरौली जिला गोपालगंज (बिहार)

प्रकाशक— शंकर दयाल गुप्त, सीवान।

भास्कर प्रेस, सीवान १९७७।

नाम जप का रहस्य

Secret of Nam Japa

जप योग और अजपा जाप
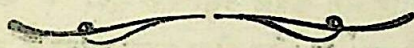
मन शब्दरूप है। शब्दों से वाक्य बनते हैं और वाक्यों के माध्यम से ही मन विचार करता है। बिना शब्दों से वाक्य बनाये मन विचार नहीं कर पाता। मन निरन्तर किसी न किसी भाषा में ही अपने दुःख सुख के विचारों को प्रकट करता है। वह वाक्यों के सहारे एक इच्छा से दूसरी इच्छा पर तथा एक विचार से दूसरे विचार पर आता जाता रहता है! चित्त वृत्तियों को एकाग्र करने को ही योग कहते हैं किन्तु मन तबतक एकाग्र नहीं हो सकता जबतक उसे शब्दों से वाक्य बनाने की छूट मिलती है।

मन को निर्विचार करने का एक ही उपाय सरलतम है। हम मन को शब्द देना बन्द कर दें। मन को शब्द मिलना बन्द हो जायेगा तब वह वाक्यों की रचना स्वतः बन्द कर देगा और निर्विचार स्थिति की प्राप्ति सुगम हो जायेगी। वाक्य रचना के लिये मन को कम से कम दो शब्दों की आवश्यकता होती है एक उद्देश्य की तथा दूसरे विधेय की। जब भी हम वाक्य बनाते हैं तो शब्दों का अवलम्ब लेना आवश्यक हो जाता है।

जप योग एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो मन को वाक्य

वनाने से रोक देती है। जप योग में मन निरन्तर एक ही शब्द को दुहराता रहता है अतः दूसरे शब्द मन में आ ही नहीं पाते और मन केवल उसी एक शब्द में अर्थात् उसी एक शब्द के अर्थ में लीन होता चला जाता है जो शब्द जप योग का माध्यम वनता है। एक ही शब्द के निरन्तर जप से अन्य शब्द जो मन को वाक्यों को वनाने में सहयोग करते थे उनका आना वन्द हो जाता है। अतः जप योग से मन की सारी गतिविधियाँ पूर्णतः शान्त हो जाती हैं।

प्राण जिसे आप श्वास समझते हैं वही हमारे शरीर का प्रमुख अंग है। प्राण हमारे शरीर के सभी अंगों एवं मन सहित ज्ञान इन्द्रियों एवं कर्म-इन्द्रियों को संचालित करते हैं। स्वास रहित शरीर ही मृतक कहलाता है। अन्धा, वहरा, लंगड़ा और पगला व्यक्ति भी जीवित रह सकता है किन्तु प्राण रहित व्यक्ति क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता। मानसिक एवं शारीरिक सारी क्रियाएं शरीर में प्राण ही करते हैं यदि प्राणों से ही नाम जप किया जाय तो इससे जप की कोई भी श्रेष्ठ विधि नहीं हो सकती है। हमारे प्राणों में दो क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। एक तो हम स्वांस लेते हैं दूसरे स्वांस छोड़ते हैं। चौबीस घंटे में लगभग २१,६०० बार प्रत्येक व्यक्ति स्वांस छोड़ते तथा लेते हैं यदि स्वांस लेते और छोड़ते समय हम नाम का जप करें तो हमारे प्राण पूरी तरह से नाम जप में लग जायेंगे और हमारे पूरे व्यक्तित्व से ही नाम का जप प्रारम्भ हो जायेगा।

नाम उस शब्द को कहते हैं जिससे आप परमात्मा का बोध करते हैं। जो आपके मन के परमात्मा को आपके ह्रदय में प्रकाशित करने में सहायक होतथा जो आपके चित्त मेंपूर्णता की भावना एवं समस्त दिव्यताओं के पूंजीभूत स्वरूप को प्रकट करता हो, वही नाम है। शुद्ध, बुद्ध, अमृत, महान, नित्य निरंजन, शाश्वत अखण्ड एवं सर्व शक्तिशाली की भावनाएँ जो हमारे मन की पवित्रतम, भावनाओं को छेड़ती रहती हैं उन्हें ही हम परमात्मा कह कर सम्बोधित करते हैं। नाम जप को सुगम बनाने के लिये दो अक्षरों से बने नाम का जप बहुत अच्छा होता है। एक अक्षर को हम स्वांस के साथ खींचते हैं और एक को हम स्वांस के साथ छोड़ते हैं। जसे यदि राम मंत्र का जप करना है तो रा मिलाकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक एवं कोमलता से स्वांस अन्दर खींचेगे और यदि स्वांस छोड़ना है तो म उसके साथ मिला लेंगे। रा मिलाकर स्वांस खींचना और म मिलाकर स्वांस छोड़ना चाहिये। जितने में स्वासा चलती हो अथवा जो भी स्वांसा चलती हो इस पर विचार नहीं कर स्वांस स्वांस में जप करना चाहिये। स्वासा खींचते समय रा अक्षर का उच्चारण मन की वाणी से इतना करना है कि जैसे पूरा ब्रह्माण्ड ही गूंज गया है और म से स्वांसा चाहे जैसे भी हो छोड़ देना चाहिये। ध्यान केवल स्वांसों में ही बनाये रखें और मन ही मन स्वांसा के साथ रा को मिला ले और छोड़ते समय म मिला कर छोड़ दें

कोई आवश्यक नहीं कि आप राम मंत्र का ही जाप करें, आपकी प्रीति यदि सोहम् मंत्र में है तो आप सो मिला कर स्वांस खींचे और हम् मिला कर छोड़ दें और, स्वांस प्रस्वांस में सोहम् का जप चलते फिरते, उठते बैठते करें।

मुसलमान फकीर अल्लाहू नाम का स्वांसों से जप करते हैं। स्वांसा खींचते समय अल्ला और छोड़ते समय हू का मन ही मन जप करते हैं।

स्वांसों में इस प्रकार जप्र करने से मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। जो प्राण सारे शरीर की समस्त क्रियाओं का कर्त्ता था, वही स्वासा अब पूरे शरीर से नाम का जप ही करना शुरू कर देती है और समस्स नाड़ियों में नाम का झंकार मच जाता है। स्वांसा ही समस्त इन्द्रियों के संग क्रियाएँ करती थी और अब वही स्वांसा नाम जप में लग गयी तो मनसहित इन्द्रियों को कुमक मिलना बन्द हो जाता है और मन एकाग्र हो जाता है। प्राणों से कीमती वस्तु हमारे पास कोई भी नहीं है। यदि हमने स्वांसों को ही प्रभु के नाम में अर्पित कर दिया तो अब इससे बड़ा कौन सा त्याग हम प्रभु के लिये कर सकते हैं।

कबीर ने कहा है कि :—

नाम लिया तीन सब किया
सकल वेद का भेद
बिना नाम नरके पड़ा
पढ़ता चारो वेद

फिर कहा है कि :-

माला है निज स्वास का
सुमिरेगा कोई दास
काल फन्द जब लखि पडै
छुटै जन्म की फांस
क्या सुनाऊं क्या बताउं,
क्या वजाउं ढ़ोल
एक एक स्वांसा जात है
तीन लोक का मोल

संसार में बहुत से लोग हैं जो गूंगे हैं अतः वे वाणी से नाम का जाप नहीं कर सकते। मृत्यु काल में बहुतों की वाणी अवरूद्ध हो जाती है। बहुत से लोग मरने के कुछ दिनों पहले से ही बोलना बन्द कर देते हैं। उनकी वाणी बन्द हो जाती है अतः अन्तिम समय में ऐसे लोग वाणी से कैसे नाम का जप कर सकते हैं। किन्तु स्वासों से तो निरन्तर सभी समय और प्रत्येक स्थान पर नाम का जप चल सकता है

सवही सुलभ सब दिन सब देसा
सेवत सादर समन कलेसा ॥

नाम जप से श्रेष्ट कोई भी साधना नहीं है। नाम जप से शब्द का पाचन हो जाता है। जब साधक नाम का जप प्रारंभ करता है तो जब तक उसकी इच्छा शक्ति Will Power साथ देती है तब तक तो मन एकाग्र होता चला जाता है। और जंसे ही संकल्प शक्ति कम होती है अथवा लगन में

कमी आती है कि मन इन्द्रियों के संग बाहर चला जाता है अथवा सांसारिक पदार्थों पर विचार करना शुरु कर देता है। लाखों बार मन भागे और उसको पकड़ कर अपने लक्ष्य पर लगाया जाय, यही साधना है। ऐसा कोई उपाय नहीं है कि मन का भागना बिलकुल एकाएक बन्द कर दिया जाय। क्योंकि मन के अनेक अंग होते हैं। एक इन्द्रिय मन होता है जो इन्द्रियों के संग क्रियाए करता है तथा निरन्तर उनकी सुख सुविधाओं के विषय में विचार करता है। मन का एक भाग पिण्डी मन है जो पलकों को गिराता तथा शरीर के सभी अंगों को संचालित करता है। दूसरा मन का भाग ब्रह्माण्डी मन है जो हमारे संकल्पों और कल्पनाओं के संग उड़ाने भरता रहता है और यह कभी भी हमारे वश में नहीं रहता है। मन का एक भाग जो साधक बनता है वह है निज मन। यह मन का शुद्ध सतोगुणी भाग है। यह आत्मा के समीप है। अतः यह निरन्तर जीव को परमात्मा की की ओर प्रेरित करता है तथा शुभ एवं पुण्यमय कार्यों की ओर प्रेरित करता है। इनकी इच्छाएँ महान होती हैं। मैं कौन हूँ ? परमात्मा क्या है ? सृष्टि का परम तत्व Ultimate reality किसे कहते हैं ? माया और ब्रह्म क्या है ? यही प्रश्न निरन्तर निज मन के समाने होते हैं। यह सृष्टि के रहस्य को सुलझाने का निरन्तर प्रयत्न करता है। किन्तु मन के अन्य भाग सदैव जीव को अर्थात चित्त बृत्ति को अपने अपने विषयों में लगाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

जैसे ही आप ध्यान करना शुरु करते हैं अथवा नाम का जप शुरु करते हैं कि अनेक बातें मन में आ जाती हैं और नाम का जप छूट जाता है और मन के ये भाग आप को भटकाते रहते हैं किन्तु बार बार के अभ्यास से मन की भागने की शक्ति कम होती जाती है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण: प्रमाथी बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

मन वायु की भांति चंचल है किन्तु

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते

अभ्यास और वैराग्य से यह मन एकाग्र हो जाता है और इसकी चंचलता मिट जाती है और निरन्तर मन की वृत्ति तैलधारावत् नाम के जप में लग जाती है। उस काल में अभूतपूर्व आनन्द उत्पन्न हो जाता है और साधक का मन सुख के समुद्र में डुब जाता है। अन्त में योगी पुरुष को ऐसा बोध होता है कि सो भी मैं ही हूँ और हम् भी मैं ही हूँ रा भी मैं ही हूँ और म भी मैं ही हूँ। वह अनामय निःअक्षर नाम तक इस नाम के माध्यम से पहुँच जाता है जो शब्द का शान्तपद् है। जो पराबाणी ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान, वह केवल ज्ञान ही स्वर और व्यञ्जन के सारे अक्षर बना हुआ है और स्वयम् में वह बिना अक्षर का निःअक्षर ही है जो साधकों का लक्ष्य है जिसे आत्मवेत्ता आत्मपद् कहते हैं।

जब जप, जाप और जापक की एकता हो जाती है तो

वह एक ज्ञानतत्व ही रह जाता है और साधक उसी में प्रवेश कर उसी से अपनी अनुभूति करता है। वहां सर्वत्र नीचे उपर दाये बायें मैं हूँ मैं हूँ और मैं शरीर मन से परे केवल ज्ञानस्वरूप एक रस अखण्ड हूँ इसकी सहज में ही प्रतीति होने लगती है।

बहुत शीघ्र योग में सफलता प्राप्त करने के लिये नाम जप का सम्बन्ध प्राणायाम से करना चाहिये।

आभ्यन्तरिक कुम्भक और बर्हिकुम्भक प्राणायामों के द्वारा नाम का जप यदि केवल 40 दिनों तक ही नित्य १॥ घन्टे सुबह शाम किया जाय तो समाधि तक की स्थिति प्राप्त की जा सकती है

स्वांस में रा अथवा सो खींचते समय अन्दर ही तब तक स्वांसों को रोक रखे जब तक बेचैनी नहीं हो और जब म के साथ यां हम् के साथ स्वांसों को बाहर छोड़े तो कुछ देर तक बाहर ही स्वांसों को रोक रखें जब तक कोई बेचैनी नहीं मालूम हो। इस क्रिया का करते समय खीर, घृत और फल मूल का सेवन करें पेट साफ रखें तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते रहें आधे पेट अन्न भोजन करें और केवल ४ घन्टे तक सयन करें जो लोग बहुत थोड़े ही दिनों में अलौकिक अनुभूतियां चाहते हों वे इसी आभ्यन्तरिक एवं बाह्य कुम्भक प्राणायामों के संग नाम का जप करें।

जो लोग सांसारिक कामनाओं की सिद्धि चाहते हैं

वे लोग स्नान कर नित्य अर्ध रात्री में रुद्राक्ष की माला से एक हजार वार नाम का जप करे। तथा जप समाप्त करके किसी स्तुति का पाठ करें। नाम के जप में जैसे ही आत्म-विस्मृति होगी कि कामनाएँ सिद्ध हो जायेगी। ध्यान में कामनाओं की विस्मृति से कामनाएँ परमात्मा में चली जाती हैं। ध्यान के द्वारा सफलता प्राप्ति का यही रहस्य है। जब तक हम अपनी इच्छाओं को भूल नहीं जाते ध्यान में, तब तक नाम का जप न होकर केवल इच्छाओं का ही जप होता है। अतः कुछ काल के लिये भी इच्छाओं की विस्मृति आवश्यक है। नाम जप के प्रभाव से असम्भव भी सम्भव हो सकता है। इच्छाओं की विस्मृति होते ही इच्छाएँ प्रभु तक पहुँच जाती हैं।

"मंत्र महामणी विषय व्याल के"
"मेटत लिखा कुअंक भाल के"

सूई की नोक से ऊँट का निकलना कठिन है किन्तु परमात्मा के लिये सब कुछ सम्भव है।

नहीं कलि करम न भगति विवेकू,
राम नाम अवलंबन एकू।
चहुँ युग तीनि काल तिहुँ लोका
भए नाम जपि जीव विसोका॥

नाम जप तन्मयता से प्रारम्भ कीजिये

हल्का शरीर करके उत्तर दिशा की ओर मुँहकर, बाये पैर पर दाहिना पैर रख कर सुखासन में बैठ जाइये और चाहे

जो भी स्वास चलती है, रा मिलाकर अत्यन्त प्रेमपूर्वकस्वासा खीचीये और मन में मन की ही वाणी से रा की आवाज से ब्रह्माण्ड को गूँजा दीजिये। फिर'म'चाहे जैसे भी हो शीघ्र ही छोड़ दीजिये। रा के लेते समय चाहे जितनी देरी लग जाय, म को शी घ्र चाहे जैसे भी हो छोड़ देना चाहिये

नाम काम तरु काल कराला
सुमिरत समन सकल जग जाला।
सेवक सुमिरत नामु सप्रीति,
बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती ॥

नाम जप में मन भौतिक पदार्थों की तरह गल कर कोमलतम बन जायेगा और बुद्धिपूर्ण सतोगुणी ही हो जायेगी। भोजन करते समय व्यक्ति यह नहीं सोंचता कि इसका खून कहाँ बन रहा है और इसके कौन कौन से रस कहाँ तैयार हो रहे हैं किन्तु ये सारे कार्य आप ही आप ही जाते हैं। भक्त केवल नाम का जप करता है और उसके आध्यात्मिक एवं लौकिक जीवन में जो कुछ भी अत्यावश्यक है वह सब आप ही आप हो जाता है।

सुक सनकादि सिद्ध मुनि योगी,
नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी ॥

व्यक्तियों में श्रेष्ट अर्थात् गणों में श्रेष्ट गणेश जी नाम की ही भक्ति में लगे रहते हैं।

चूहा स्वासा को ही कहते हैं जैसे चूहे बीलों में आते जाते रहते हैं, ठीक वैसे ही स्वांसा नाकों से आती जाती

रहती है। गणेश जी चूहों पर सवारी करते हैं, अर्थात् निरन्तर स्वांसों से नाम का जप करते हैं। व्यक्ति वही आसीन होता है जहाँ उसकी चित्त वृत्ति रहती है। गणेश जी नित्य निरन्तर स्वासों का ही निरीक्षण करते रहते हैं और उन्हीं के द्वारा नाम का जप करते हैं।

महिमा जासु जान गनराऊ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि नाम का जप करते समय ध्यान किसका किया जाय। इस पर तुलसी दास जी लिखते हैं—

सुमिरिय नाम रुप विनु देखे
आवत हृदयँ सनेह विसेषें
देखिय रुप नाम आधीना
रुप ज्ञान नहि नाम विहीना

बिना किसी रुप के भी नाम का जप किया जा सकता है। शब्द का स्वरुप नाद होता है। नाद ही क और ख में अन्तर बतलाता है। अतः नाम जप करते समय रा के नाद में ही मन रहे और स्वांसा छोड़ते समय म के नाद में ही मन को रखना चाहिये। नाद ही अक्षर और शब्द का स्वरुप है और उसी नाद में चित्त रखना आवश्यक है।

इष्ट का ध्यान भी नाम जप के समय कर सकते हैं। ज्ञानी पुरुष सर्व श्रेष्ट इष्ट हैं क्योंकि उनके रुप का जब हम ध्यान करेंगे तो मन के साथ ही प्राण की गति होती है और

प्राण भी ज्ञानी के प्राण से मिल जायेगा और अपनी सुरत सहज में ही उन ज्ञानी सन्त की सुरत से मिलकर परमतत्व तक पहुँच जायेगी। इसे मारफत का रास्ता भी कहा जाता है। अन्य देवी देवताओं अथवा अवतारी पुरुषों का भी ध्यान किया जा सकता है। जैसा गुरु द्वारा निर्देशित किया गया हो वैसा करना उत्तम साधकों का लक्ष्य होना चाहिये।

"किन्नाराम रुप मस्ताना हरदम छक्का छक्की है" (किन्नाराम)

लाख इबादत से ज्यादा दुनियाँ में हुसन परस्ती है (मंसूर)

परमात्मा का कोई विशेष रुप नहीं होता क्योंकि वह तो सर्व व्यापक ज्ञान स्वरुप ही होता है अतः वह चाहे जैसा भी रुप भक्तों के हित के लिये एवं उनकी तृप्ति के लिये धारण कर सकता है।

अगर वह खाक में लोटे तो गिल
अक्शीर बन जाये
खुदा से गर कहे तू बन
तो वह तस्वीर बन जाये

नाम की भक्ति करने वाले सभी सन्त नाम के दिवाने होते हैं।

राम नाम अति मीठ है
पिअत निकासे जान
पिअत निकासे जान
मरे कि करो तैयारी
सो वह प्याला पिये

सीस को धरै उतारी।

नाम प्रेमी सभी साधनों का त्याग करके केवल नाम का ही अवलम्ब लेते हैं।

नानक देव जी कहते हैं :—

नानक दुखिया सब संसार

सुखी वही जा को नाम आधार

नाम का जापक ही दुःखों पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है क्योंकि नाम जप से निश्चय ही मन मिट जाता है। और मन के मिटते ही सत्य स्वरुप आत्मा प्रकट हो जाती है।

कुछ लोग प्रभु प्रेम में विश्वास नहीं रखते हैं उनकी दशा उस चूहे की तरह है जो एक अच्छे से बील में रहता था। वह बील एक कमरे के समीप था। कमरे में टेबुल पर बठ कर कुछ लोग शराब खूब पीकर चले गये। वहाँ पड़ी टेबुल पर शराब लगभग एक चम्मच बोतलों से गिरगया था। चूहा लागों के चले जाने के बाद बील से निकला और टेबुल पर पड़े कुछ शराब की बूंदों को पी गया। मूँह जल गया और चूहा बील में घूस कर शराब की मन ही मन निन्दा करने लगा। इतने में ही उस पर शराब का नशा छा गया और वह बहुत प्रसन्न हुआ,कि यह तो कोईबहुत ही अच्छी चीज मालूम होती है। ऐसा विचार कर चूहा टेबुल पर पड़े सारे शराब को पी गया। नशे में चूर चूहा अपनी पूंछे सीधी कर कहने लगा — अरी बिल्ली तू

कहाँ है, हर रोज मुझे डराती थी आज यदि तू मिल जाय तो मैं अपना जौहर दिखला दूँ और तुम्हें कच्चे चबा जाऊँ। संयोग से इतने में ही बिल्ली आ गई और चूहे को नशे में बेखबर देखकर उसे चट कर गयी। जीवों की यही दशा है। जब संसार का नशा चढ़ता है तो कहते हैं— कहाँ है परमात्मा मैं उसे नहीं मानता। तबतक काल आकर उसे समाप्त कर देता है।

राम ही केवल प्रेम पिआरा,
जानि लेहु जो जाननि हारा
मिलही न रघुपति विनु अनुरागा,
किये योग जपतप वरागा ॥

नाम जप के माध्यम से प्रभु प्रेम का स्रोत हृदय में फू पड़ता है और वह प्रेम ही प्रभु प्राप्ति का एक मात्र स रास्ता है।

किसी पहाड़ी नदी के लिये मार्ग बनाना नहीं पड़ वह पर्वतों को तोड़ती फोड़ती और धरती को कुरेदती सागर से मिल जाती है। प्रभु प्रीति उत होने पर किसी मार्ग की आवश्यकता नहीं पड़ती। अनादि विरह स्वयं भाव समाधि के द्वारा प्रभु से मिल रहता है। गुरु भक्ति और प्रभु भक्ति में अन्तर का अभ है किन्तु भक्ति ज्ञानी गुरु की हो तब। अज्ञानी भ की कोई भलाई नहीं कर पाता है। गुरु प्रेम और प्रभु में अन्तर नहीं है।

मोते अधिक गुरुहिजिय जानी।
तिनके हृदय करौ रजधानी ॥

विरह भावों का राजा है। प्रभु-प्राप्ति की जिज्ञासा, सत्य की खोज तथा अपनी खोज ही मुक्ति का द्वार है। अपने को जानने वाला परमात्मा को भी जान लेता है। गुरु भक्ति को कलंकित करनेवाले अज्ञानी और स्वार्थी लोग ही हैं जो गुरु बनकर ज्ञान के बदले अज्ञान का प्रचार करते तथा अपने को महात्मा एवं सन्त न मानकर परमात्मा ही मानते हैं

विन गुरु भव निधि तरै कि कोई,
हरि विरंची शंकर किमि होई।

गुरु से प्रगाढ़ प्रीति ही जीव को शिव में बदल देती है किसी भी इष्ट को प्रभु रुप मान कर जब हम उससे अनन्य स्नेह स्थापित करते हैं तभी जीवत्व की समाप्ति होने लगती है तथा मुक्ति का द्वार खुल जाता है अपने अहंकार को मिटा डालने के लिये कहीं किसी भी इष्ट के सामने पूर्ण समर्पण और पूर्ण शरणागति की आवश्यकता है। अहं-कार के मिटते ही अज्ञान का अन्धकार समाप्त हो जाता है। जिसका मस्तक सन्तों के चरणों में झुकता है उसका मस्तक काल के सामने नहीं झुकता है।

भक्त किसी भी मार्ग का खण्डन नहीं करते और अपने कुल धर्म का परित्याग कदापि नहीं करते हैं। सना-तन धर्म ही अनादि धर्म है और अनन्त काल तक रहने वाला है। अन्य सभी मार्ग और धर्म सनातन से ही

उत्पन्न हैं और अन्ततोगत्वा सनातन में ही प्रवेश कर जायेंगे सनातन धर्म विश्व का धर्म है और योग धर्म का वह विज्ञान है जिसके द्वारा सिद्धान्तों का प्रयोग सम्भव होता है और परम सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

जीव दया – धर्म की रीढ़ है। जीव दया के अभाव में सारे अन्य गुण बेकार हैं और दया के हृदय में रहते सारे अवगुण भी कुछ नहीं हैं। दया धर्म की जड़ है।

है पीरो का पीर वही जो जाने पीर पराई है।
जिसके दिल में दया नहीं वह तो खूनी कसाई है॥

शरणागति सर्व श्रेष्ट धर्म है। इसलिये अन्य धर्मों का त्याग करके भी शरणागति रूपी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। धर्म के सारे नियम नश्वर हैं जो देश काल में कभी न कभी त्याज्य बन ही जाते हैं किन्तु शरणागति पर देश काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और एकमात्र शरणागति ही ऐसी भावना है जो कभी नहीं टूटती है। इसीलिये गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं —

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः समे प्रियः॥ (गीता)

जो न कभी हर्षित होता है और न कभी दुःख करता है जो पाप और पुण्य दोनों का त्याग कर चुका है जो कुछ होने पर भी अच्छा बुरा कुछ नहीं समझता है। जो जीवन की आशक्ति से उपर उठकर जीता है, वह भक्त मुझे प्यारा है।

सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणम् व्रज ॥
गीता

शरणागति प्रभु की छत्रछाया में आ जाने को ही कहते हैं। जहां छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बातें भी हरि महिमा को ही बतलाती हैं। शरणागति का अर्थ कर्त्तव्यों का त्याग नहीं है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सब की प्राप्ति पुरुषार्थों से ही होती है। पुरुषार्थ की चोरी करनेवाला चोर है। किसी मर्यादित पेशे को अपना कर अपने पूरे पुरुषार्थ को सम्पादित करना प्रत्येक व्यक्ति का पुनीत कर्त्तव्य है किन्तु कर्म-फल के प्रतिआशक्ति का त्याग करना परम आवश्यक है। फलाशक्ति का त्याग ही त्याग की वास्तविकता है। और सब त्याग त्याग का दिखलावा मात्र है। मिहनत एवं परिश्रम पूरा कर लेने के बाद फल चाहे अनुकूल या प्रतिकूल हो हरि महिमा मानकर उनको स्वीकार करना ही फलाशक्ति का त्याग एवं शरणागति का मार्ग है। धर्म हमारी सारी शक्तियों को एक ऐसी दिशा प्रदान करता है कि हमारी शक्तियों के प्रयोग से किसी को दुःख भी नहीं हो तथा जीवन का चरम सत्य भी प्राप्त हो जाय। कामनाओं से ऊपर उठने वालों को सच्ची जिन्दगी मिलती है। जहां अन्धकार नहीं है, मृत्यु नहीं है केवल ज्ञानस्वरुप अपनी सत्ता ही अमृत है, परमानन्द है, परमशान्ति है और है परम तेज जो कभी अपराजित नहीं होता है।

एक तो अजपा जाप से अर्थात स्वांसों के जप से स्वासों का निरीक्षण सहज ही हो जाता है। जिसका भी निरीक्षण किया जाय वह शान्त हो जाता है और केवल निरीक्षण करनेवाला द्रष्टा ही रह जाता है क्योंकि द्रष्टा में कोई क्रिया कभी न तो होती है और न उसपर क्रियाओं की कोई प्रतिक्रिया ही होती है। अतः स्वासों के निरीक्षण से स्वासा मिट जाती है, शान्त हो जाती है और स्वांसों के अधीन ही सारी वृत्तियां हैं, अतः मनसहित सारी वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। प्राण के शान्त होने सेव्यक्ति के अन्दर शून्यता (vacum) उत्पन्न हो जाती है और कर्मों के शान्त हो जाने से शरीर की सारी शक्ति की उर्जा शरीर के अन्दर वायु शून्यता (vacum) पर क्रिया करने लगती हैं जिससे चित्ताणु टूट जाते हैं और उसमें परमाणविक शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि उसके संकल्पों का दूरगामी प्रभाव देखा जाता है। उसके आशीर्वाद एवं श्राप में उस आत्मिक परमाणु का प्रभाव पड़ता है और वह व्यक्ति सिद्ध हो जाता है कोई खिलवाड़, तमाशा दिखलाना केवल धोखाधड़ी है वास्तविक सिद्धि तो आत्मिक शान्ति, ज्ञान एवं आनन्द है तथा संकल्प की शक्ति (will power) है।

(१) जीव दया (२) सन्त सेवा (३) नाम का भजन तथा (४) आत्मज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कर अपने जीवन का परम कल्याण कर सकता है।

सुमिरन और भजन, लगन और प्रेम के अधीन

है, जिससे अपनी प्रगाढ़ प्रीति उत्पन्न हो जाय उसका स्मरण आप ही आप होने लग जाता है। चाहे व्यक्ति अपने प्रेमास्पद से चाहे जितनी दूर भी क्यों न चला जाय उसका स्मरण आप ही आप होने लगेगा। यही भजन का रहस्य है यही सुमिरन की कुञ्जी है। भजन ध्यान करने वाले व्यक्ति को अपने इष्ट से अनन्य प्रेम स्थापित करना चाहिये और उसके लिये तन मन धन को पूरी तरह भेंट चढ़ा देना चाहिये। इसे ही कुर्बानी कहते हैं। किसी भेड़े दुम्बे को या खस्सी बकरे को काट डालना कुर्बानी नहीं है बल्कि अपने इष्ट के चरणों में अपना तन मन धन भेंट कर देना ही कुर्बानी है। अपने मन सहित अहंकार को किसी के चरणों में अर्पण कर पूर्ण शरणागति ही कुर्बानी है। जीवों को काटना मूर्खों की कुर्बानी है, परमात्मा तो तभी प्रसन्न होगा जब हम अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी उसके लिये निछावर कर दें। प्रत्येक त्याग भी प्रेम के अधीन है। जिससे अपनी अनन्य प्रीति हो जाय उसके लिये व्यक्ति अपना सब कुछ निछावर कर सकता है।

न हम हँस के सीखे हैं, न कुछ रोकर सीखे हैं।
जो कुछ भी सीखे हैं, किसी का बन के सीखे हैं॥

ॐकार का प्लुत ध्वन्यात्मक जप और उद्गीथ

यदि साधक सुखासन से बैठ कर शान्तचित अपने दोनों होठों को बन्द कर ध्वन्यात्मक प्लुत ओंकार का जप करे तो उसके प्राण और मन शीघ्र ही शान्त होने

लगते हैं।

दोनों होंठ बराबर बन्द रहेंगे और भँवरे की सी आवाज बाहर सुनाई पड़ती रहेगी। इस क्रिया में साधक ॐकार की आवाज को अपने शरीर के सबसे नीचे के भाग से बीचोबीच से उठते हुये विचार करेगा और वह ध्वनि मस्तक के ऊपर तक बढ़ती जायेगी। स्वासा पूरी आवाज निकालती रहेगी किन्तु थकान आने के पूर्व ही पुनः नाक से स्वासा ले लिया जायेगा। इस क्रिया को वेदों में उद्गीथ कह कर पुकारा गया है। यह भ्रामरी प्राणायाम के संग नाम जप क्रिया है। इसके करते ही मन का स्वरुप सामने कैदी सा मालूम पड़ता है। जप की यह विधि शब्दों को शारीरिक प्रक्रियाओं द्वारा ही विद्युन्मय बना लेने का है। इस क्रिया के करते ही प्राण और वीर्य की उर्ध्व गति हो जाती है। इस क्रिया के समय यदि दोनों कानों को तर्जनी अंगुलियों से बन्द कर लिया जाय तो अनाहद शब्द सुन पड़ते हैं जिसे कुछ लोग अजपा कहते हैं। दाहिनी ओर के नाद को सुनना चाहिये। इससे पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति होती है।

अश्वनी मुद्रा के द्वारा नाम का जप—

नाम जप के द्वारा नपुंनकता अति शीघ्र दूर की जा सकती है तथा शरीर प्राप्त किया जा सकता है। आयु और आरोग्यता बढ़ाने वाली यह अश्वनी क्रिया योगवेत्ताओं के लिये सुखद्वार खोल देती है।

सुखासन में चुपचाप बैठ जाइये और इच्छा

शक्ति द्वारा अपने गुदा स्थान को ऊपर खींचिए और फिर छोड़िये। इसी खींचने और छोड़ने में रा और म पिरोय लीजिए। गुदा स्थान को ऊपर खींचते समय रा को मन ही मन मिला लीजिये और म को गुदा स्थान को छोड़ते समय मन ही मन स्मरण कीजिए। इस प्रकार की क्रिया के करने से रक्त का संचार सारे शरीर में होने लगता है रोमरोम जीवनी शक्ति से भर जाता है। व्यक्ति को जीवन पर्यन्त नपुंसकता का शिकार नहीं होना पड़ता है। वीर्य नाश जल्दी नहीं होता, बुढ़ापा आती ही नहीं और सारी बीमारियाँ दूर हो जाती है। कायाकल्प करने की इससे श्रेष्ट कोई न तो क्रिया है और न तो कोई औषधि है। इस क्रिया को शौच होने के बाद सुबह साम को आधे घन्टे तक किया जा सकता है।

पलकों को खोलते और बन्द करते समय तथा हृदय की धड़कनों के संग भी अजपा जाप की क्रिया की जा सकती है। पलकों को इच्छा शक्ति द्वारा कोमलता से बन्द करते समय रा और खोलते समय म का स्मरण करे। इस क्रिया से सुन्दरता बढ़ जाती है। मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। सुषुम्ना खुल जाती है और कुण्डलिनी का जागरण हो जाता है जिससे जीव की चेतना परम चेतना से मिल जाती है

नाम जप के द्वारा षटचक्र भेदन क्रिया—

सुखासन में शान्तचित बैठकर सो अक्षर को मन ही मन गुदा

स्थान से उठा कर मस्तक तक लाइये और पीठ की रीढ़ होते हुए मन हम् के साथ पुनः गुदास्थान तक पहुँच जाँय। यह सोहम् का मानस वृत्ताकार जप सुषुम्ना के मार्ग से जीवात्मा को शरीर से बहिर्गमन का मार्ग प्रस्तुत करता है।

करते कर्म करें विधि नाना।
मन राखे जहं कृपा निधाना॥

कर्मों का त्याग न करते हुए ध्यान भजन करना चाहिये। चौबीस घन्टे में केवल १ घन्टा भजन ध्यान में यदि व्यय करेंगे तो शरीर की बैट्री परम चेतना द्वारा चार्ज हो जायेगी और तेईस घन्टे आप प्रसन्नतापूर्वक अन्य कार्य कर सकेंगे।

स्वास स्वास सुमिरो गोविन्दा
मन अन्दर दे निकसे चिन्दा (नानक जी)

स्वासा स्वासा सोहम् जाप
सोहम् सोहम् आपे आप। (कबीर)

सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा
दीप शिखा सोई परम प्रचण्डा (रामायण)
आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा
तब भव भेद मूल भ्रमनाशा
प्रबल अविद्या कर परिवारा
मोह आदि सब मिटहीं अपारा

कबीर ने तो यहां तक कह डाला कि "सब स्वासों की स्वास में" खोजी होय तुरत मिलिहौं पल

भर की तलाश में ”

स्वासों से नाम जप को अजपा जाप कहते हैं।
अजपा जाप के समान कोई जप नहीं है।

चञ्चु की मुद्रा द्वारा नाम का जप—

मुँह पर ही सारी शक्ति को लाइये और मुँह को चोंच की तरह बनाकर दोनों होठों को सटाकर धीरे धीरे किन्तु बलपूर्वक जीभ के अग्र भाग से स्पर्श करते हुए वायु को रा के संग खींचिए और नाक से म के द्वारा छोड़ दीजिये। मुह में जो शीतल जल इकट्ठा हो उसको पान कर जाइये और पूरी स्वासा भर पुनः इस क्रिया की वारंबार आवृत्ति कीजिये। 108 वार इस क्रिया को सुबह शाम करने से शरीर के सारे रोग छूट जाते हैं। दमा, ब्लडप्रेसर की अचूक क्रिया है। इस क्रिया के द्वारा पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति की जा सकती है। कायाकल्प की यह यौगिक क्रिया योग वेत्ता-ओं में वैदिक काल से ही प्रचलित है। गुरु भक्तों को साधन में सिद्धि प्राप्त हो जाती है। गुरु मुखी परमात्मा की ओर बढ़ता है और मन मुखी संसार की ओर।

ज्ञानी गुरु के द्वारा नाम का जप सीख कर यदि प्रेमपूर्वक अभ्यास किया जाय तो थोड़े ही समय में आनन्द, शान्ति और ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है।

योगी पुरुष को चाहिये कि आहार कम करे तथा सात्विक आहार करे। अधिक भोजन करने वालों की शक्ति भोजन के पाचन में ही व्यय हो जाती है। अतः स्वल्प

भोजन करना आवश्यक है तथा मन और पेट को साफ रखना ही योगियों का स्नान है ऊपर ऊपर धोने से मन का कोई सम्बन्ध नहीं। पेट और मन साफ रहने पर ही योग विद्या की प्रवीणता प्राप्त की जा सकती है। पेट यदि स्वाभाविक साफ नहीं रहता हो तो बीजों को निकाल कर बराबर बराबर आंवला, हर्रे और बहेरा का चूर्ण बना लीजिए और एक चम्मच चूर्ण सुवह साम ताजे जल के संग ले लीजिये। यह पेट स्वच्छ रखने की अपूर्व दवा है। इसे गुड़ अथवा शहद से भी जल के संग ले सकते हैं। सन्त-साहित्य के अध्ययन से एवं सन्तों की संगति से मन पवित्र हो जाता है। साधक अपनी लगन की गति से ही बढ़ता है। मुक्ति की कामना जितनी प्रबल होगी। प्रभु दर्शनों के लिये जितना ही विरह होगा उतनी शीघ्रता से ही चित्त आत्मा में लीन होगा और मनोकामना पूर्ण होगी।

किन्तु संसार की हर कोई वस्तु दुख और सुख दोनों देने की क्षमता रखती है। यदि हम किसी भी वस्तु से आशक्ति रखेंगे तो उसमें से हमे दुःख की भी प्राप्ति अवश्य होगी और यदि आशक्ति का त्याग कर कोई वस्तु रखेंगे तो केवल सुख ही मिलेगा और वस्तुओं में दुख देने वाली क्षमता का अभाव हो जायेगा। धन की कामना रखते हुए धन रखने वाला धन से दुःखी होगा किन्तु धन की कामना से ऊपर उठ कर धन रखेंगे वे धन से केवल सुख की ही प्राप्ति करेंगे और यही बात प्रत्येक वस्तु के संग लागू होगी।

प्रत्येक परिस्थिति के लिये जिसने अपने को तैयार कर लिए है, ज्ञान केवल उसी के पास है किन्तु पुरुषार्थ और कर्त्तव्यों का परित्याग किसी भी परिस्थिति में नहीं करना चाहिये। पूर्ण पुरुषार्थी ही फलाशक्ति का त्याग कर परमानन्द की प्राप्ति कर सकता है।

अपनी मृत्यु की कल्पना कर अपने शरीर को कल्पना की अग्नि में जला देना चाहिये और अपनी भस्मी को अपने ज्ञान स्वरूप से देखना चाहिये। नित्य इस प्रकार से ध्यान करने वाला अपने ज्ञानरुप जीवात्मा को शीघ्र ही जान लेता है चुपचाप बांया पैर नीचे तथा दाहिना पैर उपर कर बैठ जाना चाहिये। शरीर को सीधा किन्तु शिथिल रखना चाहिये। कड़ा नहीं करना चाहिये और अपने मृत शरीर का द्रष्टा अर्थात देखने वाला बनना चाहिये। सोचना चाहिये कि हमारी मृत्यु हो चुकी है और हमारा शरीर मरा हुआ पड़ा है अथवा चिता पर जलाया जा रहा है। फिर अपनाअस्तित्व ज्ञान के रुप में साफ प्रकट होजायगाजो अपना असली जीवत्व है वह अमर है और अविनासी है। सीता को अग्नि में डाल कर सही सीता को प्रगट करने का यही रहस्य है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना असली स्वरुप प्राप्त करने के लिसे अपने नकली शरीर को कल्पना की आग में जला देना पड़ेगा और तब ज्ञानस्वरुप आत्मा प्रगट होगी जो अपना असली रुप है। वह ज्ञान तत्व है। अमर है। वहीं से मैं की भावना का आरम्भ होता है यह रहा जीव की

ज्ञान।

ब्रह्म के ज्ञान के लिये चुपचाप सुखासन में बैठ जाइये और ऐसा बिचार कीजिये कि हमारे सहित सारे ब्रह्माण्ड का नाश हो गया है केवल आकाश ही बच गया है और सारी वस्तुएं बिलकुल नष्ट हो गई हैं। ऊपर, नीचे, दाये और बांये केवल आकाश बच गया है वह जिस ज्ञान में मालूम पड़ रहा है, वही ज्ञान मैं हूँ। मैं ज्ञान रुप से सर्वत्र व्याप्त हूँ। केवल ज्ञानस्वरुप मैं ही मैं हूं जिसे लोग परमात्मा कहते हैं वह मैं ही हूं। इस प्रकार बिचार करने से अपने वास्तविक ब्रह्मस्वरुप की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है।

जिसे जानकर सब कुछ जान लिया जाता है जिसे जान कर अमृत तत्व की प्राप्ति हो जाती है तथा मानव जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है वही आत्मा आप स्वयं हैं! जिसे आप आनन्द कहते हैं। शान्ति कहते हैं और ज्ञान कहते हैं वही आप स्वयं हैं। Self-realization आत्मज्ञान से श्रेष्ट कुछ भी नहीं होता है।

प्यारे। तेरा ज्ञान तुम्हीं को अर्पित है लिखने और पढ़ने वाला एक तू ही तू है। शब्द, अर्थ, वाक्य और अर्थ सब कुछ तू ही है। अतः तेरी वस्तु तुम्हीं को अर्पित है। तेरी तनिक सी प्रसन्नता से मेरी सेवा भावना सिद्ध हो जायेगी और मैं कृतार्थ समझूंगा अपने आप को।

जैसे आग में एक तिनका जल जाय, तो मूर्ख

व्यक्ति को ही उसमें कुछ जला मालूम होगा। वास्तव में जिन तत्वों से तिनका बना था वे बिखरभरगयेहैं उसमें मिटा और जला कुछ भी नहीं है। किन्तु अग्नि को यह अभिमान हो गया है कि हमने तिनके को जला दिया है। ठीक हमारे अभिमान उसी प्रकार से हैं। वास्तव में हमने न तो पहले कुछ किया था और न अभी कुछ कर रहे हैं और न आगे कुछ करेंगे। सत्य जैसा था वैसा ही है और वैसा ही रहेगा केवल तू ही तू हो। और सब गुम है, लापता है और फना है।

तेरा राज मेरा ही राज है,
तेरा इश्क मेरी नमाज है।

जो तू है वही मैं हूँ और बस एक ही एक। "दर तेरा छोड़ना नहीं चाहे धक्के मुक्के मारो जी" चाहे लाभ हानि जो भी हो हमें तो तेरी छत्रछाया चाहिये जहां संसार का शमन हो जाता है। जहां दुःख सुखों में परिणत हो जाते हैं।

राम नाम एक अंक है
सब साधन है सून।
अंक गये कछु हाथ नहि
अंक रहे दस गुन॥

राम नाम ही एक अंक हैं। और सारी साधनाएं शून्य हैं। यदि एक के दाहिनी ओर शून्य दे दिया जाय तो वह दश हो जायेगा यदि दो शून्य दे दिया जाय तो वह सौ गुन

जायेगा किन्तु एक हो ही नहीं और हम हजार शून्य देते जांय तौभी वे सारे के सारे शून्य रह जायेंगे और उनका कोई भी मूल्य नहीं होगा। योग वाशिष्ट, नारद भक्ति सूत्र एवं अन्य भक्ति एवं योग के ग्रन्थों में भी नाम के अजपा जप का सर्वाधिक महत्व दिया जाता है।

भूखा दुःख कोई नहीं, सब की गठरी लाल।
गठरी खोल देखे नहीं ताते भये कँगाल ॥

सब की वास्तविकता तो एक प्रभु ही है कोई छोटा नहीं है किन्तु अपनी महानता से अनभिज्ञ रहने के कारण जीवमात्र दुःखी हैं।

एक भीखमंगा था। वह एक बस्ती में बैठ कर नित्य दिनभर भीख मांगता था। जीवन भर भीख मांगने के बाद उसकी मृत्यु हो गयी। लोगों ने विचार किया कि स्थान बहुत दिनों से गन्दा पड़ा है कुछ मिट्टी उस स्थान से कटवा कर अन्यत्र फेंकवा दिया जाय। लोग जब मिट्टी काट कर फेंकने लगे तो देखा गया कि जहां भीखमंगा बैठ कर भीख मांगा करता था ठीक उसी के कुछ नीचे रत्नों का खजाना छिपा हुआ था।

ठीक हमारी ऐसी ही दशा है। मनुष्य में परमात्मा बनने की सारी सम्भावनाएँ छिपी पड़ी हैं किन्तु वह अपनी ओर कभी भूलकर भी नहीं देखता और इस अनमोल जीवन को ऐसे कार्यों में ही नष्ट कर देता है जहां से कुछ भी उसे प्राप्त नहीं होता। मात्र आसक्ति के कुछ हाथ

लगता नहीं और आशक्ति से वशीभूत होकर संसार चक्र
में पड़ा रहता है। यदि सब के जानने वाले को हम पहचान
लें तो हम अपनी आत्मा को ही जान लेंगे और अपने
आपको कृतार्थ कर लेंगे।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

गीता (यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि =)
यज्ञों में जप यज्ञ मैं ही हूँ।

गीता— (अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्)
अन्तकाल में भी हमारा स्मरण करनेवाला
शरीर त्याग कर मुक्ति की प्राप्ति करता है
(यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः)

आत्मानन्द परमहंस

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

श्री पं० जयदेवकविविरचितम्—

श्री गीतगोविन्दम्

राधाविनोदकाव्यञ्च

तच्च

श्री मंगेश्वरराव देशमुख विरचित
भाषाटीकया समलंकृतम्

प्रकाशक—

ठाकुरप्रसाद एण्ड सन्स

बुकसेलर,

राजादरवाजा, कचौड़ीगली, वाराणसी।

फोन ६४६५० —:— मूल्य ३) रुपया

❀ श्रीकृष्णाय नमः ❀

श्री पं० जयदेवकविविरचितम्—

श्रीगीतगोविन्दम्

राधाविनोदकाव्यञ्च ।

तच्च

श्री मोरेश्वरराव देशमुख विरचित

भाषाटकीया समलंकृतम्

प्रकाशक—

ठाकुरप्रसाद ऐण्ड सन्स बुकसेलर

राजादरवाजा, ब्रांच-कचौड़ीगली, वाराणसी ।

बम्बई प्रेस में छपा

मूल्य २)

श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः

अथ गीतगोविन्दम्

प्रथमः सर्गः १

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ॥
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥१॥

भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनकी मित्रमण्डली व्रजराजके साथ वृन्दावन की मनोरम छटा देखते-देखते कुछ दूर निकल गई। सहसा गगन मण्डल मेघों से आच्छादित हो गया। उस समय तमाम वृक्षों की सघन पंक्तियों से वनस्थली काली-काली दिखाई देने लगी। नन्द ने सोचाः—सायंकाल होना ही चाहता है। जंगल का मामला है कृष्ण रात में भयभीत हो जाँयगे—इसलिये इन्हें पहले से ही घर पहुँचा देना ठीक होगा। उन्होंने कृष्ण के ऊपर अधिक स्नेह रखने वाली राधा से कहा—तुम जाओ और इन्हें भी साथ में ले जाकर घर पहुँचा देना। नन्द की आज्ञा मिलते ही राधा कृष्ण के साथ चलीं। कालिन्दी का

तट, सघन कुञ्जों से अलंकृत वनपथ तथा सुखदायी एका
इन सुभिधाओं से परम प्रसन्न कौतुकी श्रीकृष्ण की प्रेमम
राधा के साथ सम्पन्न क्रीड़ायें संसार में अपनी समता न
रखतीं ॥ १ ॥

वसन्ततिलकावृतम्

वाग्देवताचरितचित्रितचित्तसद्मा पद्मावतीच
रणचारणचक्रवर्ती ॥ श्रीवासुदेवरतिकेलिकथासमेतं
करोति जयदेवकविः प्रबन्धम् ॥ २ ॥

श्री सरस्वती की अद्भुत लीलाओं से अलंकृत हृदय व
श्री राधा के चरण सेवकों में सर्वप्रधान श्रीजयदेव कवि, भगव
श्रीकृष्ण चन्द्र की प्रेमलीलाओं से परिपूर्ण इस गीत गोवि
नामक प्रबन्ध का निर्माण करते हैं ॥ २ ॥

द्रुतविलम्बितेन

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकला
कुतूहलम् ॥ मधुरकोमलकान्तपदावलिं शृणु त
जयदेवसरस्वतीम् ॥ ३ ॥

हे भक्तजनों ! यदि श्रीकृष्णचन्द्रजी का ध्यान क
अपना हृदय शीतल करना चाहो और वृन्दावनविहारी
रासलीला व कानन-क्रीड़ा सुनने की इच्छा करो तो ज

कविराज विरचित गीतगोविन्द नामक पुस्तक का पाठ श्रवण करो ॥ ३ ॥

शार्दूलविक्रीडितेन

वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते: ॥
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्द्धी कोऽपि न विश्रुतःश्रुतिधरो धोयीकविःक्ष्मापतिः

कवि उमापतिधरजी वाक्यविन्यास में श्रेष्ठ थे, शरण कवि दुरूह रचना में प्रसिद्ध थे, श्रीगोवर्धनाचार्य जी शृङ्गार रस पूर्ण कविता करने से मान को प्राप्त हुए थे, इसी भाँति धोयी कविराज को सुनने मात्र से ही याद हो जाता था किन्तु श्री जयदेव कविराज विशुद्ध रचना के लिये आदरणीय हैं ॥ ४ ॥

मालवरागे रूपकताले अष्टपदी ॥ १ ॥

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम् ॥
विहितवहित्रचरित्रमखेदम् ॥
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीशहरे ॥ ध्रु०॥१

हे भगवन् ! प्रलयके समय आपने बिना परिश्रम समुद्रतरण के लिये नौका की तरह चेष्टित मीन रूप धारण करके वेदशास्त्र की रक्षा की थी ! हे मीन रूपधारी भगवन् ! तुम्हारी जय हो, जय हो, जय हो ॥ १ ॥

क्षितिरतिविपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे ॥
धरणिधरणकिणचक्रगरिष्ठे ॥
केशव धृतकच्छपरूप जय जगदीश हरे ॥ २ ॥

हे भगवन् ! आपने अपने अति विपुलतर पीठ पर पृथ्वी को धारण किया था, इसी कारण आपके पृष्ठ पर व्रण (घाव) का चिन्ह है, हे जगदीश ! आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ २ ॥

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना ।
शशिनि कलंककलेव निमग्ना ॥
केशव ! धृतसूकररूप जय जगदीश हरे ॥ ३ ॥

हे केशव ! आपने सूकर रूप धारण करके प्रलय के जल से पृथ्वी का निज दाँतों से उद्धार किया । इसी कारण आपके दाँतों में प्राप्त पृथ्वी कलंक रेखा के सदृश शोभायमान हो रहा है, हे जगदीश ! तुम्हारी जय हो जय हो जय हो ॥ ३ ॥

तव करकमलवरे नखमद्भुतश्रृङ्गम् ।
दलितहिरण्यकशिपुतनुभृङ्गम् ।
केशव ! धृत नरहरिरूप जय जगदीश हरे ॥ ४ ॥

हे केशव ! आपने नृसिंहरूप धारण कर श्रेष्ठ करकमल में आश्चर्य पैदा करने वाले अदभुत भृङ्गरूप नखों को धारण किया और उन्हीं नखों से दैत्यराज हिरण्यकशिपु का विनाश किया, इस कारण हे भक्तवत्सल भगवन् ! तुम्हारी सदैव जय हो जय हो जय हो ॥ ४ ॥

छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन ।
पदनखनीरजनितजनपावन ।
केशव ! धृत वामनरूप जय जगदीश हरे ॥ ५ ॥

हे केशव ! आपने वामन रूप धारण करके बलि को छला था और आपही ने अपने चरणकमलों से निकले हुए जल से समस्त लोगों को पवित्र किया था, हे भक्तजन रक्षक ! तुम्हारी जय हो जय हो जय हो ॥ ५ ॥

क्षत्रियरुधिरमये जगदपगतपापम् ।
स्नपयसि पयसि शमितभवतापम् ॥
केशव ! धृतभृगुपतिरूप जय जगदीश हरे ॥ ६ ॥

हे परशुरामरूप धारण करने वाले भगवन् ! आपने परशुराम रूप धारण कर कठोरात्मा क्षत्रियों का विनाश करके उन्हीं के रुधिर से पृथ्वी को तृप्त किया था, हे भगवन् ! हे जगदीश ! आपकी जय हो ३ ॥ ६ ॥

वितरसि दिक्षु रणे दिक्पतिकमनीयम् ।
दशमुखमौलिबलिं रमणीयम् ।
केशव धृतरामशरीर जय जगदीश हरे ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! आपने समस्त लोगों पर दया करने के हेतु रामरूप धारण करके सभी देवताओं को प्रसन्न करने के लिये राक्षसराज रावण का संहार किया था, हे भगवन् ! तुम्हारी जय हो ३ ॥७॥

वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभम् ।
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम् ॥
केशव ! धृतहलधररूप जय जगदीश हरे ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! आपने हलधर रूप धारण करके मेघ स
नील वस्त्र धारण किया तब आपके शुभांग में वह नील
हलभीता यमुना का स्वरूप शोभायमान हुआ था, हे जगदी
आपकी जय हो ३ ॥ ८ ॥

निन्दसि यज्ञविधेरहहश्रुतिजातम् ।
सदयहृदयदर्शितपशुघातम् ॥
केशव ! धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे ॥ ९

हे भगवन् ! आपने ही जीवों पर दया करने के हेतु
रूप धारण करके, पृथ्वी में जितने यज्ञ पशुहिंसाप्र
हुआ करते थे उनकी निन्दा की, हे बुद्धरूपधारी भगव
आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ ९ ॥

म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालम् ।
धूमकेतुमिव किमपि करालम् ॥
केशव ! धृतकल्किशरीर जय जगदीश हरे । १०

हे भगवन् ! आपने दुष्ट म्लेच्छों के नाश के हेतु धू
स्वरूप खड्ग धारण किया था । हे कल्किरूप भगवन् ! आप
जय हो जय हो जय हो ॥ १० ॥

श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारम् ।
शृणु सुखदं शुभदं भवसारम् ॥
केशवधृतदशविधरूप जय जगदीश हरे ॥ ११ ॥

श्री जयदेवरचित यह स्तोत्र सब स्तोत्रों में श्रेष्ठ है । हे भक्तगण ! इसको भक्तिभाव युक्त प्रीति पूर्वक आनन्द से श्रवण करो । हे दश अवतारों को धारण करने वाले भक्तजन दयालो ! आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ ११ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे प्रथमः प्रबन्धः ॥ १ ॥

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः १

हे भगवन ! आपने मीनरूप धारण कर प्रलय के जल से वेद शास्त्र की रक्षा की, कूर्मरूप धारण कर पृथ्वी को पीठ पर वहन किया, वाराहरूप धारण कर निज दन्तों से पृथ्वी को पानी में से उठाया, नृसिंह रूप धारण करके हिरण्यकशिपु का नाश किया, वामन रूप धारण कर बलिराज का छलन किया, परशुराम रूप धारण करके क्षत्रियों का नाश किया, राम रूप धारण करके रावण का हनन किया, हलायुध रूप धारण करके यमुना को खींचा, बुद्धरूप धारण करके अहिंसा धर्म को प्रकाशित किया और अब कल्कि रूप धारण करके महाभ्रष्ट

म्लेच्छ लोगों का विनाश करेंगे। अतः हे दशविधरूप धारण करने वाले! आपके चरण कमलों में मेरा नित्य प्रति साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम है ॥ १ ॥

गुर्जरागे प्रातमंठताले अष्टपदी ॥ २ ॥

श्रितकमलाकुचमण्डल धृतकुण्डल ए।
कलितललितवनमाल जय जयदेव हरे ध्रु० ॥१॥

हे भगवन्! आप लक्ष्मी देवी के सुन्दर वक्षस्थल से क्रीड़ा करते हैं, आप कर्णभूषण से शोभायमान हैं आपके कण्ठ में बनमाला अत्यन्त सुशोभित हो रही है, हे कमलाकान्त! आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ १ ॥

दिनमणिमण्डलमण्डन भवखण्डन ए।
मुनिजनमानहंस जय जय देव हरे ॥ २ ॥

हे नारायण! सूर्यमण्डल के भूषणस्वरूप समस्त लोगों को गति भक्ति और मुक्ति देने वाले आपही हो सन्त-भक्तजनों के हृदय में हंस सदृश विराजमान रहते हो। इससे हे भगवन् आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ २ ॥

कालियविषधरगंजन जनरंजन ए।
यदुकुलनलिनदिनेश जय जय देव हरे ॥ ३ ॥

हे भगवन्! आपने कालिय नाग का दमन किया था आप ही भक्तजनों की मनोकामना को परिपूर्ण करने वाले हैं

यदुवंशरूप कमल के प्रकाशक सूर्य स्वरूप आपही हैं । हे यदुकुल प्रकाशक ! आपकी जय हो ॥ ३ ॥

मधुमुरनरकविनाशन गरुडासन ए ।
सुरकुलकेलिनिदान जय जय देव हरे ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! आपने मधु दैत्य और मुर नामक असुर का विनाश किया था, नरकस्थित पापियों को आप मुक्ति पद देते हैं । गरुड़ जिनके वाहन हैं ऐसे हे गरुड़ासन भगवन् ! आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ ४ ॥

अमलकमलदललोचन भवमोचन ए ।
त्रिभुवनभवननिधान जय जय देव हरे ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! आपके नेत्र, कमल के समान हैं, भवपाश से छुड़ाने वाले आप ही हैं, हे नारायण ! आपके असंख्य नाम हैं जिन नामों के उच्चारण मात्र से भक्तिप्रधान जीवों का हृदय शुद्ध होता है । हे भक्तिप्रद ! आपकी जय हो जय हो जय हो॥५॥

जनकसुताकृतभूषण जितदूषण ए ।
समरशमितदशकंठ जय जय देव हरे ॥ ६ ॥

हे भगवन् । आपने ही मिथिलेश नन्दिनी सीता का अङ्ग भूषित किया था और आप ही ने निर्दय पापी दूषण और पाप-रूप लंकापति रावण का विध्वंस किया, हे परमपुरुष ! आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ ६ ॥

अभिनवजलधरसुन्दरधृतमन्दर ए।
श्रीमुखचन्द्रचकोर जय जय देव हरे ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! आपका स्वरूप नूतन मेघ के तुल्य गोवर्धन पर्वत को कनिष्ठिका पर धारण करके व्रजपुरी की आ.ने की। हे लक्ष्मी के मुखरूप चन्द्रमा के चकोर आप नाम धन्य है, हे परमेश ! आपकी जय हो जय हो जय हो ॥

तव चरणे प्रणता वयमिति भावय ए।
कुरु कुशलं प्रणतेषु जय जय देव हरे ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! हमलोग आपके चरणकमल में साष्टाङ्ग प्र करते हैं। आप ही हम लोगों का मंगल करें, हे दीनदया आपकी जय हो जय हो जय हो ॥ ८ ॥

श्रीजयदेवकवेरिदं कुरुते मुदम्।
मंगलमुज्ज्वलगीतं जय जय देव हरे ॥ ९ ॥

श्री कविवर जयदेव का यह उज्ज्वल गीत समस्त सं लोगों को मंगलप्रद है। अतः हे परब्रह्म ! आपकी जय हो हो जय हो ॥ ९ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे द्वितीयः प्रबन्धः ॥ २ ॥

—❀०❀—

पद्मापयोधरतटीपरिरम्भलग्न-
काश्मीरमुद्रितमुरो मधुसूदनस्य ॥

व्यक्तानुरागमिव खेलदनंगखेद-
स्वेदाम्बुपूरमनुपूरयतु प्रियं वः ॥ १ ॥

शृङ्गार रस में लग्न राधाजी के स्तनद्वय में लगे हुए केशर की शोभा से युक्त वृन्दावन विहारीका हृदय आप लोगों का मंगल करे ॥ १ ॥

वसन्ते वासन्तीकुसुमसुकुमारैरवयवै-
र्भ्रमन्तीं कान्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणाम् ।
अमन्दं कन्दर्पज्वरजनितचिन्ताकुलतया
वलद्बाधां राधां सरसमिदमूचे सहचरी ॥ २ ॥

वसन्त ऋतुमें कामदेव के उग्र बाणसे पीड़ित राधा श्रीकृष्ण-चन्द्र जी से मिलने के हेतु वासन्तो पुष्पों से परिपूर्ण वन के मध्य में भ्रमण करने लगीं । उस समय श्रीवृषभानु-नन्दिनी राधिका की कोई प्रिय सहेली उदासीन राधा को देख-कर कहने लगी ॥ २ ॥

वसन्त रागे रूपकताले अष्टपदी ।

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति युवतिजनेन
समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ १ ॥ ध्रु०

हे सखी ! यह मलयवत पवन लवंगलता के निकुञ्जवन को आलिंगित कर रहा है, भ्रमर और कोकिलादिक पक्षी अपनी-अपनी मधुर ध्वनि से क्या ही मन को आनन्द दे रहे हैं और स्वयं नारायण वसन्त ऋतु में नारियों के समूह से युक्त निकुञ्ज वन में अति सुन्दर नृत्य कर रहे हैं। हे सखी ! वसन्त ऋतु विरहीजनों को अत्यन्त दुःखदायी होता है ॥ १ ॥

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे।
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे॥

यह वही वसन्त है जिसमें काम की तीव्र अभिलाषाओं से पथिक–वधू उन्मत्त होकर विलाप किया करती हैं और बकुल के फूलों पर भ्रमर बैठते हैं जिससे बकुल वृक्ष ही झुक जाते हैं ॥ २ ।

मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले। युवजन-हृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ॥ ३ ॥

तमालवृक्षों के नवीन पल्लवों की कस्तूरी तुल्य सुगन्धि से निकुञ्ज वन व्याप्त है। यह निकुञ्ज पलाश के पुष्पों से चारों ओर सुवर्ण सदृश हो रहा है। इसे देखने से यही प्रतीत होता है कि कामदेव विरहीजनों के हृदयको विदीर्ण करने के लिये अपने नखों को विस्तृत कर रहा है ॥ ३ ॥

मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेसरकुसुमविकाशे ।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥४॥

कहीं कहीं नागकेसर लता फूल रही है उससे यह ज्ञात होता है कि कामदेव ने सिर पर सुवर्ण छत्र धारण किया है। किसी २ स्थान में पाटली के फूल फूल रहे हैं और उनपर मत्त भ्रमरगण गुंजार करते हैं इससे यह प्रतीत होता है कि मदन का तूण बाणों से भरा है ॥ ४ ॥

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ॥ विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे ॥ ५ ॥

हे सखी! वसन्त ऋतु को देखकर समस्त संसार निर्लज्ज हो गया है इसी कारण ये नवीन वरुण के वृक्ष फूलने के व्याज से उसकी हँसी कर रहे हैं देखिये तो सही यह केतकी के पुष्प भल्लाकार मुख धारण किये विरहीजनों के हृदय को भली भाँति बाधित करते हैं ॥ ५ ॥

माधविकापरिमलललिते नवमालिकयातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपिमोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ।६।

यह वसन्त का समय माधवी (चमेली) और नवमल्लिका के पुष्पोंकी सुगन्धसे अत्यन्त ललित है इससे जितेन्द्रिय सत्यवादी सन्त जन भी मोहित हो जाते हैं। यह वसन्त इस समय युवक युवतियों का अकारण बन्धु है ॥ ६ ॥

स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकितचूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ॥७॥

आम्रवृक्ष चमेली लता से आलिंगित होकर मुकुलित औ[र]
आनन्द से पुलकित है । पास में बहनेवाली यमुना के जल[से]
वृन्दावन पवित्र हो रहा है ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ॥८॥

कविवर श्रीजयदेव स्वामी श्रीकृष्णचन्द्र के चरण कमल [का]
अवलम्बन करके वृन्दावन के निकुञ्ज का वर्णन करते हैं औ[र]
उसी के साथ वसन्त समय में गोपीगणों के हृदय में जो वि[रह]
पीड़ा हुई थी उसका भी वर्णन करते हैं ॥ ८ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे तृतीयः प्रबन्धः ॥ ३ ॥

दरविदलितमल्लीवल्लिचञ्चत्परागप्रकटितपटवा[सैः]
सैर्वासयन्काननानि ॥ इहहिदहति चेतः केतकीगन्ध-
बन्धुः प्रसरदसमबाणप्राणवद्गन्धवाहः ॥ १ ॥

हे राधे ! इस वसन्त के समय में कुछ खिली हुई चमे[ली]
की लताओं से उड़ती हुई पुष्पों की रजों से वन को सुगन्धि[त]
करता हुआ केतकी के गन्ध से सुगन्धित पवन कामदेव [के]
प्राण के समान वियोगियों के चित्तको दग्ध करता है अ[थवा]
इस वसन्त समय में सुगन्धित वायु से विरहिजनों का वि[...]

उन्मत्त हो रहा है, इस कारण हे वृषभानु नन्दिनि ! ऐसे समय आपका गमन उचित है ॥ १ ॥

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ॥
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥२॥

हे सखि ! जितनाही आम्रमुकुल का गन्ध विस्तारित होता है उतनाही मधुगंधलुब्ध भ्रमर उनको कम्पायमान करते हैं वैसेही पवनसे झकोरको प्राप्त आम्रवृक्षों के सिरपर बैठकर कोकिलाएँ कुहू-कुहू शब्दसे विरही पथिकों के कानों में विशेष पीड़ा देती हैं। हाय ! ऐसे पथिक (मार्ग चलनेवाले) आज अपनी प्राण-प्रिया का चिंतन करते समय बिताते हैं, और चिंता के कारण काल्पनिक क्षणिक सुख को प्राप्त होकर पश्चात् अत्यन्त क्लेश से दिन व्यतीत करते हैं ॥ २ ॥

अनेकनारीपरिरम्भसम्भ्रमस्फुरन्मनोहारिविलासला-
लसम् ॥ मुरारिमारादुपदर्शयन्त्यसौ सखी समक्षं
पुनराह राधिकाम् ॥ ३ ॥

अनेक स्त्रियोंके आलिंगनके आदरसे मनोहर विलासमें प्रगट लालसा वाले श्रीकृष्णचन्द्रजी को दूर से प्रत्यक्ष दिखाती हुई सखी पुनः राधिकाजी के प्रति बोली ॥ ३ ॥

रामकलिरागे रूपकताले अष्टपदी ॥ ४ ॥

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली । केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली। हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ॥ध्रु०॥

हे कृष्णविलासिनि राधे ! श्रीकृष्णचन्द्रजी ने चन्दन का अपने नील अंगों में लेपन किया है और पीताम्बर से उन अंगों को सुशोभित किया है, कंठमें सुन्दर वनमाला धारण की है, श्रीकृष्णजी के कपोल, हँसी सहित कामविलास के कारण अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहे हैं और उनके कुण्डलों के हिलनेसे मुखकी शोभा अपूर्व हो रही है। इस भाँति श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द इसी बन में व्रजबालाओं के साथ क्रीड़ा में तत्पर हैं ॥ १ ॥

पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम् । गोपवधूरनुगायति काचिदुदंचितपञ्चमरागम् । हरिरिह०

हे राधे ! कोई २ उन्नतस्तनी गोपवधू प्रेम से उन्मत्त होकर कृष्णजी को आलिंगन करके पंचम राग में गीत गाती है

कापि विलासविलोल विलोचनखेलनजनितमनोजम्
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधूसूदनवदनसरोजम्
हरि० ॥ ३ ॥

श्री कृष्णजी के भ्रूभंग से मोहित होकर कोई २ गोपका-मिनी उनके मदनविकासित मुखकमल का ध्यान करके बहुत ही आनन्द को प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

कापि कपोलतले मिलिताजपितुं किमपि श्रुतिमूले ।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले
हरिरिह० ॥ ४ ॥

किसी २ गोपांगनाने गुप्तवार्ताके कहने के बहाने श्रीकृष्ण जीके कर्ण के समीप अपने मुखको ले जाकर चातुरीपूर्ण ढंग से कृष्ण के मुखकमल का आनन्द पूर्वक चुम्बन कर लिया ॥४॥

केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले ॥
मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जगतं विचकर्ष करेण दुकूले
हरिरिह० ॥ ५ ॥

कोई गोपी क्रीडा की इच्छासे यमुनाजल के तटपर बेतों के कुञ्जमें विहार करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रजी का दुपट्टा हाथ से पकड़ कर खींचने लगी अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्रजी के संग काम-केलि के आनन्द को भोगनेको उसने इच्छा प्रकटकी ॥५॥

करतलतालतरलवलयावलिकलितकलस्वनवंशे ।
रासरसे सह नृत्यपरा हरिणा युवति प्रशशंसे ॥
हरिरिह० ॥ ६ ॥

किसी रमणी ने श्रीकृष्ण के साथ नाचते हुए करतल के साथ कंगन की ध्वनि भी उनकी वंशीके ध्वनिके साथ मिला दी इस ध्वनि को सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उस रमणी की अत्यन्त ही प्रशसा की ॥ ६ ॥

श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम् ॥ पश्यति सस्मितचारु परामपरा मनुगच्छति वामाम् ॥ हरिरिह० ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज किसी गोपीका आलिंगन करते हैं, किसीके मुख का चुम्बन करते हैं, किसी गोपी के संग क्रीड़ा करते हैं और किसी को हँसकर मनोहर दृष्टि से देखते हैं और किसी २ गोपी के संग पीछे पीछे भी चलते हैं ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवकवेरिदमद्भुतकेशवकलितरहस्यम् ।
वृन्दावनविपिने ललितं वितनोतु शुभानि यशस्यम् ॥
हरिरिह० ॥ ८ ॥

अनेक रसों से परिपूर्ण, केशव क्रीड़ा का रहस्य, गोपियों को आनन्द प्रद, जयदेव कविकृत यह गीत भक्तों को मंगल दे।

इति श्रीगीतगोविन्दे चतुर्थः प्रबन्धः ॥ ४ ॥

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवरश्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नंगैरनंगोत्सवम् । स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिङ्गितः शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ॥ १ ॥

हे राधे ! व्रजकामिनियों के स्वच्छन्द आलिङ्गन से संसार को आनन्दित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रजी आपही शृङ्गाररस स्वरूप हो जाते हैं और बसन्त ऋतु में सर्वत्र व्रज नारियों की इच्छा पूर्ण करते हैं। भगवान् के नील कमल के समान कोमल अंगों के भोग का अनुभव करके समस्त व्रज नारियाँ क्रीडा कौतुक में मग्न हो जाती हैं ॥ १ ॥

अद्योत्सङ्गवसद्भुजङ्गकवलक्लेशादिवेशाचलत्प्रालेयप्लवनेच्छयानुसरति श्रीखण्डशैलानिलः ॥ किंचित्स्निग्धरसालमौलिकुसुमान्यालोक्य हर्षोदयादुन्मीलन्ति कुहूः कुहूरिति मुहुस्ताराः पिकानां गिरः ॥२॥

हे राधे ! आज वसन्त के समय निज स्थानस्थित सर्पों के
श्वास भय से यह मलयाचल का पर्वत हिम में डूबने की इच्छा
से हिमालय की ओर गमन करता है और आम्र के कोमल पत्ते
को देखकर कोयलों का कुहू - कुहू शब्द आनन्द पूर्वक ऊँचे
स्वर से निकल रहा है ॥ २ ॥

रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवामभ्रुवामभ्या
परिरभ्य निर्भरमुरःप्रेमान्धया राधया ॥ साधु त्वद्वद
सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुतिव्याजादुद्भ
चुम्बितः स्मितमनोहारी हरिः पातु वः ॥ ३ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दभाषाटीकायां सामोददामोदरोनाम प्रथमः सर्गः

रासक्रीडा से प्रसन्न गोपियों के सामने श्री राधा ने श्री
कृष्णजी से कहा कि हे भगवन् ! आपका मुखकमल अमृत पूर्ण
है यह कह कर राधाजी ने उनके बदन का चुम्बन कर लिया
चुम्बन जनित हास्य रेखा से अलंकृत श्रीकृष्णचन्द्रजी का
मुख कमल सर्व जीवों का मङ्गल करे ॥ ३ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे सामोददामोदरो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

—o—

अथ द्वितीयः सर्गः

विहरति वने राधा साधारणप्रणये हरौ ।
विगलितनिजोत्कर्षादीर्ष्यावशेन गतान्यतः ॥
क्वचिदपि लताकुञ्जे गुञ्जन्मधुव्रतमण्डली
मुखरशिखरे लीना दीनाप्युवाच रहः सखीम् १

श्रीकृष्णचन्द्रजी के प्रेम में उन्मत्त राधाने और स्त्रियोंके साथ क्रीडाकौतुक में लगे हुए उन्हें देख अपने हृदय में ईर्ष्या करके मधुपानमत्त भ्रमर गणों से सेवित लता कुञ्ज के पीछे छिपकर निज सखी से अत्यन्त खेद युक्त होकर यों कहना आरम्भ किया ।

गुर्जररागे रूपकताले अष्टपदी ॥ ५ ॥

संचरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम् ॥
चलितदृगंचलचंचलमौलिकपोलविलोलवतंसम् ॥
रासे हरिमिह विहितविलासं स्मरति मनो मम
कृतपरिहासम् ॥ ध्रु० ॥ १ ॥

हे प्रिये ! श्रीकृष्णचन्द्रजी की मनो मोहिनी छवि मेरी आँखों में तथा हृदय में बसी है । अधरामृत के सञ्चार से मीठी ध्वनि से

अलंकृत वन्शी को जिस समय वे बजाते हैं और तिरछी आंखों से देखने वाले चञ्चल मुकुट तथा किरीट को धारण किये हुए जिस समय वे मधुर परिहास करने लगते हैं उस समय की उनकी छटा का मुझे बारबार स्मरण होता है ॥ १ ॥

चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम् ।
प्रचुरपुरन्दर धनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम्। रासे०

श्रीकृष्णचन्द्र के केश मयूरपुच्छ के सदृश शोभायमान हो रहे हैं और उनकी कान्ति इन्द्रधनुष के समान शोभित हो रही है ॥ २ ॥

गोपकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलम्बितलोभम् ।
बन्धुजीवमधुराधरपल्लवमुल्लसितस्मितशोभम्। रासे०

हे सखि ! श्रीकृष्ण ने नितम्बवती गोपबालाओं के मुख कमलों का चुम्बन करने के लिये लोभ किया है और जिनके अधर पल्लव बन्धुजीव के समान मधुर हैं—हँसीसे जिनकी शोभा उल्लसित हो रही है ऐसे श्रीकृष्ण को मेरा मन स्मरण करता है ॥ ३ ॥

विपुलपुलकभुजपल्लववलयितवल्लवयुवतिसहस्रम्
करचरणोरसिमणिगणभूषणकिरणविभिन्नतमिस्रम्

न हरिने नवीन पल्लवस्वरूप कोमल हाथों से हजारों गोप-
ामिनियों को अलंकृत किया है, जिन हरिके हाथों और चरणों
भूषणों से समस्त अन्धकार नाश होता है ऐसे श्रीकृष्ण चन्द्र
ो को मेरा मन स्मरण करता है ॥ ४ ॥

लदपटलचलदिन्दुविनिन्दकचन्दनतिलकललाटम् ।
नपयोधरपरिसरमर्दननिर्दयहृदयकपाटम् ॥ रासे० ॥

हे सखि ! जिनके ललाटमें लगा चन्दन मेघों के समूह में
ञ्चल चन्द्रमा की निन्दा करता है और गोपियों के पुष्ट स्तनों
प्रान्तभाग के मर्दन करने में जिनका वक्षस्थल दबता नहीं है
से श्रीकृष्णचन्द्रजी को मेरा मन स्मरण करता है ॥ ५ ॥

णिमयमकरमनोहरकुण्डलमण्डितगण्डमुदारम् ।
तवसनमनुगतमुनिमनुजसुरासुरवरपरिवारम् ॥

हे सखि ! जिन हरिके गण्डदेश में अत्यन्त सुन्दर मणियों के
ण्डलाभूषण शोभायमान हो रहे हैं और जिनके चरण कमल की
ा ऋषि, मनुष्य, देवता असुरादि सभी करते हैं, जिन हरिने
पने सुन्दर पीताम्बर से अद्भुत कोमल अङ्गों को शोभित
िया है ऐसे श्रीकृष्णचन्द्रजी को मेरा मन स्मरण करता है ॥६॥

विशदकदम्बतले मिलितं कलिकलुषभयं शमयन्तं
मामपि किमपि तरंगदनंगदृशा मनसा रमयन्तम्
रासे० ॥ ७ ॥

हे सखि ! अत्यन्त सुन्दर कदम्ब के नीचे मिलने
कलिकाल में उत्पन्न हुए पाप भयके नाशक तथा कामक्रीडा
बढ़ानेवाली दृष्टि से देखने वाले और हृदय से मेरे साथ
करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र को मेरा मन स्मरण करता है ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमतिसुन्दरमोहनमधुरिपुरूपम् ।
हरिचरणस्मरणं प्रति संप्रति पुण्यवतामनुरूपम् ।
रासे० ॥ ८ ॥

श्री जयदेव कवि रचित अतिसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र के रूप
वर्णन इस कलिकाल में भक्तों को हरिचरणों के स्मरण के
उपयुक्त होवे ॥ ८ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे पञ्चमः प्रबन्धः ॥ ५ ॥

गणयति गुणग्रामं भ्रामं भ्रमादपि नेहते । वहति
परितोषं दोषं विमुञ्चति दूरतः ॥ युवतिषु चलत
कृष्णे विहारिणि मां विना ! पुनरपि मनो वामं
करोति करोमि किम् ॥ १ ॥

श्री वृषभानु नन्दिनी राधाके यह वचन सुनकर सखियाँ
धाजी से कहने लगीं–हे राधे ! श्रीकृष्णजी जब तुम्हें छोड़
न्य ब्रजनारियों के साथ क्रीड़ा व्यवहार करते हैं तो तुम क्यों
चिढ़ती हो ? यह सुन राधा ने कहा कि हे सखि !
ाहे कृष्णजी मुझे छोड़ अन्य गोपियों के साथ क्रीड़ा में
लेही आसक्त होवें परन्तु मेरा मन तो उनपर लग गया है।
नके दोष करने पर भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहती और
नके ध्यान से मेरा मन प्रसन्न होता है, कहो मैं इस विषय
ं क्या करूँ ॥ १ ॥

मालवरागे एकताली ताले अष्टपदी ॥ ६ ॥

िभृतनिकुञ्जगृह गतया निशि रहसि निलीय
सन्तम् ॥ चकितविलोकितसकलदिशारतिरभसभ-
ण हसन्तम् ॥ सखि हे केशिमथनमुदारम् ॥ रमय
या सह मदनमनोरथभावितया सविकारम् ॥ध्रु०॥१॥
थमसमागमलज्जितया पटु चाटुशतैरनुकूलम् ॥
दुमधुरस्मितभाषितया शिथिलीकृतजघनदुकूलम् ॥
सखि हे० ॥ २ ॥

हे सखि ! शान्त लतागृह में आई हुई मेरे साथ रात को एकान्त
क्रीड़ा करने वाले, चकित होकर इधर-उधर देखने पर कौतुक

से भरी हंसी हँसने वाले, केशि दैत्य के मारने वाले श्रीकृष्ण साथ कामभावासक्त मुझे तुम मिला दो ॥ १ ॥

हे सखि ! प्रथम समागम की लज्जा से युक्त मेरे कोमल मधुर हँसी सहित भाषण करने वाले श्रीकृष्णचन्द्र भाँति मेरी बिनती करेंगे। उस समय मेरी लज्जा दूर हो जा तब श्रीकृष्ण आपही मेरे जाँघ पर की साड़ी हटा हे सखि ! ऐसे उन श्रीकृष्णजी से तुम हमें मिला दो ॥

किसलयशयननिवेशितया चिरमुरसि ममैव शयान कृतपरिरम्भणचुम्बनया परिरम्भ कृताधरपान

सखि हे० ॥

हे सखि ! मैं कुञ्जकुटीर के मध्य कोमल पत्तों की बनाकर शयन करूँगी तब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण मेरे विराजमान होकर मेरेही वक्षस्थल पर चिरकाल तक शयन हुए आलिङ्गन कर मेरा अधरामृत पान करेंगे ऐसे श्रीकृष्ण जी से तुम हमें मिला दो ॥ ३ ॥

अलसनिमीलितलोचनया पुलकावलिललितकपो श्रमजलसिक्तकलेवरया वरमदनमदादतिलोल

सखि हे० ॥

हे सखि ! इस प्रकार कामभोग के समय मदासक्ति से
ीकृष्ण के दोनों ही नेत्र अधखुले ही रहेंगे और उनके दोनों
कपोल पुलकित होकर अत्यन्त सुन्दर स्वरूप धारण करेंगे !
रे बदन पर पसीने की बूँदों को देखकर वह श्रीकृष्ण मुझे ही
ार बार चञ्चल नेत्रों से देखेंगे, हे सखि ! ऐसे श्रीकृष्णजी से
झे मिला दो ॥ ४ ॥

ोकिलकलरवकूजितया जितमनसिजतन्त्रविचारम् ।
लथकुसुमाकुलकुन्तलया नखलिखितघनस्तनभारम् ॥
सखि हे० ॥ ५ ॥

हे सखि ! कोकिल के समान शब्द करने वाली, रति के
मय ढीले-ढीले फूलों से गुथे हुए अलकों वाली मेरे साथ,
ामदेव को मात करने वाले और स्तनों पर नखक्षत करने वाले
ीकृष्णचन्द जी को मुझसे मिला दो ॥ ५ ॥

रणरणितमणिनूपुरया परिपूरितसुरतवितानम् ।
खरविशृङ्खलमेखलया सकचग्रहचुम्बनदानम् ॥
सखि हे० ॥ ६ ॥

हे सखि ! मणिजटित नूपुरों के शब्द वाली और ढीली
गई है मेखला [कमर बन्धन नारा] जिनकी ऐसी मेरे संग

परिपूर्ण किया है रति क्रीड़ा का सुख जिन्होंने तथा मेरे
को पकड़ कर किया है मुखचुम्बन जिनने ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र
को मुझसे मिला दो ॥ ६ ॥

रतिसुखसमयरसालसया दरमुकुलितनयनसरोजम्।
निःसहनिपतिततनुलतया मधुसूदनमुदितमनोजम्॥
सखि हे० ॥ ७ ॥

हे सखि ! रतिक्रीड़ा में आसक्त होने से मेरे अङ्ग
शिथिलता अवश्य आयेगी और श्रीकृष्णजी के कमल नेत्र
अनंगराग से निश्चय ही मुदित होवेंगे। श्यामसुन्दर मेरी यह
देखकर उस समय मुझपर अत्यन्त आसक्त हो जायेंगे
श्रीकृष्णचन्द्रजी को मुझसे अवश्य मिला दो ॥ ७ ॥

श्रीजयदेव भणितमिदमतिशयमधुरिपुनिधुवनशीलम्।
सुखमुत्कण्ठितगोपवधूकथितं वितनोतु सलीलम्॥
सखि हे० ॥ ८ ॥

जयदेव कविरचित श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरित्रसे युक्त,
पूर्वक राधा जी द्वारा कही हुई शृङ्गाररस का यह लीला
और सुननेवालों को इस लोक और परलोक में सुखद हो।

इति श्रीगीतगोविन्दे षष्ठः प्रबन्धः।

ृस्तत्रस्तविलासवंशमनृजुभ्रूवल्लिमद्बल्लवी-
ृन्दोत्सारिदृगन्तवीक्षितमतिस्वेदार्द्रगण्डस्थलम् ॥
ामुद्वीक्ष्य विलज्जितस्मितसुधामुग्धाननं कानने ।
ोविन्दं व्रजसुन्दरीगणवृतं पश्यामि हृष्यामि च ॥१॥

हे सखि! जो हरि व्रजबालाओं से घिरे हुए हैं और समस्त
लायें छिपे हुए भाव से जिन हरिकी ओर कटाक्ष युक्त दृष्टिपात
रती हैं, मुझे देखकर जिन कृष्णकी वंशी गिर जाती है, कृष्ण
ी हँसी कन्दर्पराग से परिपूर्ण हो जाती है, जिनके कपोल पसीने
गीले हो रहे हैं इस भाँति वनमें केलि करते हुए उन कन्हैयाको
खकर मेरे मनमें अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है ॥ १ ॥

रालोकस्तोकस्तबकनवकाशोकलतिका ।
ेकाशः कासारोपवनपवनोऽपि व्यथयति ॥
ाभिभ्राम्यद्भृङ्गी रणितरमणीयानमुकुल-
सूतिश्चूतानां सखि शिखरिणीयं सुखयति ॥ २ ॥

हे सखि! मैं अपने दुखकी कहानी क्या कहूँ यह नवीन
ोक की लता का फूलना, यह सरोवर का शीतल वायु, मुझे
ाही दुख देता है हे मेरी प्यारी! यह भ्रमर का राग आम्र
सुन्दर कलियाँ भी मझे सुख नहीं देती हैं ॥ २ ॥

साकूतस्मितमाकुलाकुलगलद्धम्मिल्लमुल्लासित
भ्रूवल्लीकमलीकदर्शितभुजामूलार्द्धहस्तस्तनम्
गोपीनां निभृतं निरीक्ष्य दयितं काश्चिच्चिरं चि
न्तंतर्मुग्धमनोहरो हरतु वः क्लेशं नवः केशवः

इति श्रीगीतगोविन्दे अक्लेशकेशवो नाम
द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

समस्त गोपियों के हाव भाव कटाक्ष युक्त मुखों को देख
कामवश से छूटी हुई बेणी, आनन्द पूर्वक भृकुटियों को, इत
एवं स्तनों को देखकर कन्हैयाजी सब कामिनियों में से रा
को श्रेष्ठ अनुमान करके बहुत देर तक उनके सौन्दर्य का
करने लगे। ऐसे मधुर तथा चित्त चोर राधाजी के
आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र तुम्हें मंगल दें ॥ ३ ॥

इति श्री गीतगोविन्दे महाकाव्ये भाषाटीकायां द्वितीयः स

—❀०❀—

तृतीयः सर्गः
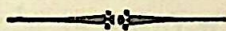
कंसारिरपि संसारवासनाबंधशृङ्खलाम् ।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णचन्द्रजी ने सांसारिक वासना को बाँधने की शृङ्खला
राधाजी को मनमें स्थिर करके अन्य व्रज सुन्दरियोंको त्याग कर
दिया ॥ १ ॥

इतस्ततस्तामनुसृत्य राधिकामनंगबाणव्रणखिन्नमा-
नसः । कृतानुतापः स कलिन्दनन्दिनीतटान्तकुञ्जे
निषसाद माधवः ॥ २ ॥

कामदेव के बाणों से लग गये हैं घाव जिनको, दीन है मन
जिनका, किया है अनेक भाँति से पश्चात्ताप जिन्होंने ऐसे वह
कृष्ण इधर-उधर वृषभानुनान्दिनी राधिका को ढूँढ़कर यमुना
के किनारे समीपस्थ कुञ्ज में बैठ गये ॥ २ ॥

गुर्जररागे प्रतिमण्ठताले अष्टपदी ॥ ७ ॥

मामियं चलिता विलोक्य वृतं वधूनिचयेन ।

सापराधतया मयापि न वारितातिभयेन ।
हरिहरि हतादरतया गता सा कुपितेव ॥ ध्रु० ॥

गोपियों के वृन्द से घिरा हुआ मुझे देखकर राधाजी से चली गईं और जाते समय मैंने मना भी नहीं किया नष्ट हुआ है मान जिसका ऐसी वह राधा कोप करके यहाँ चली गई है । अहो ! यह मैंने बड़ाही अपराध किया ॥ १

किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण
किं जनेन धनेन किं मम जीवितेन गृहेण ॥हरि०

और मेरे बहुत काल के विरह से सन्तप्त वह राधा विरह शान्ति के लिए क्या उपाय करेगी और क्या कहेगी ! इन अन्य गोपीजनों से क्या प्रयोजन हैं ? जिसके वियोग में सभी को त्याग दिया है । इस समय धन से, घर से, मुझे कोई प्रयोजन नहीं हैं यह सब निष्फल है ॥ २ ॥

चिन्तयामि तदाननं कुटिलभ्रूरोषभरेण ।
शोणपद्ममिवोपरि भ्रमता कुलं भ्रमरेण ॥हरि०

क्रोध की अधिकता से कुटिल हैं भृकुटियाँ जिसकी से युक्त रक्त कमल के समान मुख है जिस राधा का ऐसे विन्द का मैं स्मरण करता हूँ ॥ ३ ॥

[...]महं हृदि संगतामनिशं भृशं रमयामि ॥
[...]वनेऽनुसरामि तामिह किं वृथा विलपामि॥हरि०।४।

यह विलाप करते हुए हरिने कहा कि हे राधे ! तेरी [...]नोहर मूर्ति मेरे हृदय कमल में सदैव स्थित रहती है और उसी [...]र्ति का मैं निरन्तर पूजन किया करता हूँ । इस अखण्ड वन [...] तुझे ढूँढने से मुझे दुःख मिल रहा है । विलापादि करना भी [...]थ ही है ॥ ४ ॥

[...]न्वि खिन्नमसूयया हृदयं तवाकलयामि ॥
[...] वेद्मि कुतो गतासि न तेन तेऽनुनयामि ॥
हरि० ॥ ५ ॥

[...] हे तन्वि ! कोमलाङ्गि राधे ! मैं आपके हृदय को दुःखी [...]नता हूँ परन्तु यह नहीं जानता कि तू यहां से कहाँ चली गई [...]सी से तुझे प्रसन्न करने में मैं असमर्थ हूँ ॥ ५ ॥

[...]यसे पुरतो गतागतमेव मे विदधासि ॥
पुरेव ससंभ्रमं परिरंभणं न ददासि ॥ हरि० ॥६॥

[...]वृषभानुनन्दिनि ! यदि तू मुझे दिखाई देती है तो फिर पहिले [...] भाँति मेरे पास आकर वेगसे क्यों नहीं आलिङ्गन करती । [...]रही पुरुष सर्वत्र निज प्रियाही को देखा करते हैं) ॥ ६ ॥

क्षम्यतामपरं कदापि तवेदृशं न करोमि ॥
देहि सुन्दरि दर्शनं मम मन्मथेन दुनोमि । हरि०

हे सुन्दरि ! मेरे किये हुए पिछले अपराधों को क्षमा
अब मुझसे आपका कोई अपराध न होगा मुझे दर्शन
कामसे पीड़ित हूँ ॥ ७ ॥

वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रणतेन ॥
किन्दुबिल्वसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन ॥ हरि०।

किन्दुबिल्वरूपीसमुद्रमें चन्द्रमा के तुल्य भक्तिप्रधान
स्वामी रचित श्रीकृष्णजी के परितापका वर्णन सदैव भक्त
की तृप्ति करने वाला हो ॥ ८ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे सप्तमः प्रबन्धः ॥ ७ ॥

भ्रूपल्लवं धनुरपांगतरंगितानि बाणा गुणाः श्रवण
लिरिति स्मरेण ॥ तस्यामनंगजयजंगमदेवता
स्त्राणि निर्जितजगन्ति किमर्पितानि ॥ १ ॥

समस्त ससार को जीतने के बाद अपने विजयी
कामदेव ने अपनी साक्षात विजय देवता राधा जी
दिया है । श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि सचमुच राधा की

ुष, कटाक्ष की परम्परा ही बाण तथा कर्ण देश ही प्रत्यञ्चा
॥ १ ॥

दि विसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
वलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ॥
लयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
हर न हर भ्रांत्यानङ्ग क्रुधा किमु धावसि ॥ २ ॥

इतने पर कृष्णचन्द्र कहते हैं कि ऐ कामदेव तू मुझे शंकर
झ कर बदला लेने के लिए क्रोध पूर्वक क्यों दौड़ रहा है।
हृदय पर शान्ति के लिए रक्खे हुये मृणाल को सर्प न समझ,
गले में ठंडक के लिये पड़ी नील कमल की पंक्ति को
का चिन्ह मत समझ। मैं इस समय विरही हूँ। विरह संताप
शांति के लिये लगे हुये चन्दन को शंकर की विभूति
नान ॥ २ ॥

णौ मा कुरु चूतसायकममुं मा चापमारोपय
डानिर्जितविश्वमूर्छितजनाघातेन किं पौरुषम् ॥
या एव मृगीदृशो मनसिज प्रेक्षत्कटाक्षानल-
ालाजर्जरितं मनागपि मनो नाद्यापि संधुक्षते ।३।

हे क्रीड़ा से ही समस्त संसार को जीतने वाले ! इस आम्र

पुष्प रूपी बाणको हाथमें लेकर धनुष पर मत चढ़ाओ क्यों
मूर्छा को प्राप्त हुये मेरे सदृश जनकी पीड़ा से तेरा क्या पुरु
होगा? कुछ भी नहीं। कारण कि उसी मृगनयनी राधाजीके च
हु' कटाक्षरूपी बाणों की ज्वाला से टुकड़े २ हुआ मेरा
अब तक कुछ भी जीवन को नहीं धारण करता इस
असावधान पर प्रहार करना धर्म से विरुद्ध है ॥ ३ ॥

भ्रूचापे निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथां
श्यामात्मा कुटिलः करोतु कबरीभारोऽपि मारोद्यमं
मोहं तावदयं च तन्वि ! तनुतां बिंबधरो रागवान्
सद्वृत्तस्तनमंडलं तव कथं प्राणैर्मम क्रीडति ॥

श्रीकृष्णचन्द्र निज मन में स्थित राधा के प्रति
दुःख वर्णन करते हैं। हे राधे भृकुटीरूप धनुष पर चढ़ा
कटाक्षरूपी बाण मेरे मन को भेदन करे तो अच्छा है। श्याम
कुटिल केशों का समूह भी कामदेव को बढ़ावे तो बढ़ावे
कि जो भीतर से कुटिल हैं वे दूसरे को मारने का अवश्य ही
करते हैं। यह राग पूर्ण रक्तवर्ण बिम्बाधर अधरोष्ठ मेरे
का विस्तार करे तो करे कारण कि रागवाला मोह को उ
करता ही है, परन्तु यह गोल तेरे दोनों स्तनों के म
मेरे प्राणों के साथ क्यों क्रीड़ा करते हैं कारण कि जो साधु

क्त सदाचारी होते हैं वे दूसरे के प्राणों के घातक कदापि
हीं होवे ॥ ४ ॥

ानि स्पर्शसुखानि ते च तरलाः स्निग्धा दृशोविभ्रमा
तद्वक्त्रांबुजसौरभं स च सुधास्पंदी गिरां वक्रिमा
ा बिंबाधरमाधुरीति विषयासंगेऽपि मन्मानसं
स्यां लग्नसमाधि हंत विरहव्याधिः कथं वर्तते ।५।

हे राधे । मैं तो कभी तुम्हारा स्पर्श करता हूँ व कभी
म्हारे सुन्दर मुखका और कभी तुम्हारे चञ्चल नेत्रोंका दर्शन करता
व कभी तुम्हारे मुखकमलकी सुगंधीको सूँघता हूँ, कभी तुम्हारे
धुर मुसकान युक्त प्रिय वचन को श्रवण करता हूँ कभी तुम्हारे
बाधर अधरोष्ठों की सुन्दरता का दर्शन किया करता हूँ, इतने
र भी हे प्रिये राधे ! मेरी विरहरूपी पीड़ा क्यों शान्त
हीं होती ? यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ध्यान से युक्त योगियों
ी तो व्याधि का नाश हो जाता है । पर मेरी व्याधि का
ाश नहीं होता ? ॥ ५ ॥

तिर्यक्कंठविलोलमौलितरलोत्तंसस्य वंशोच्चरद्
तस्थानकृतावधानललनालक्षैर्न संलक्षिताः ॥
मुग्धं मधुसूदनस्य मधुरे राधामुखेन्दौ मृदु—

स्पन्दं कंदलिताश्चिरं दधतु वः क्षेमं कटाक्षोर्मयः।

इति श्रीगीतगोविन्दे मुग्धमधुसूदनो
नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

श्रीराधाजी के चन्द्रवत् मुखपर श्रीकृष्ण के कटाक्षपा
हेतु कण्ठदेश टेढ़ा हुआ था। शिरके भूषण भी हिल गये
माधवजी की वंशीके गीत को सुनने में एकाग्रचित्त हो
कारण गोपीने अनुभव नहीं किया था श्रीजयदेवजी कहते हैं
इस प्रकार मधुसूदनके कटाक्ष रूपी तरंग आप भक्तों को
कालतक कल्याणप्रद होवें ॥ ६ ॥

इति श्री गीतगोविन्दे महाकाव्ये तृतीयः सर्गः ॥३॥

—❀:❀—

अथ चतुर्थः सर्गः
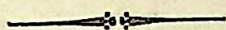
यमुनातीरवानीरनिकुञ्जे मन्दमास्थितम् ।
ाह प्रेमभरोद्भ्रान्तं माधवं राधिका सखी ॥ १ ॥

श्रीयमुना नदी के तीर बेंतों के कुञ्ज में राधाजी के प्रेमसे
न्मत्त चुपचाप बैठे हुए हरिके प्रति राधाजी की कोई प्रिय
हेली जाकर यह वचन बोली ॥ ८ ॥

कर्नाटकरागे एकतालिताले अष्टपदी ॥ ८ ॥

निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम् ॥
याललिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलय-
मीरम् ॥ सा विरहे तव दीना ॥ माधव मनसिज-
विशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ॥ध्रु० ॥१॥

हे माधव ! आपके विरह से व्याकुल कामदेव के प्रहार से
ाप ही में लीन राधा चन्दन और किरणसे भी हृदय शीतल
होने के कारण मलयागिरि की वायु को भी विष के समान
ानती है अर्थात् उक्त पदार्थों से राधा के चित्त को शान्ति नहीं

मिलती कारण कि वह राधा आपके वियोगजनित दुःख दुःखित है ॥ १ ॥

अविरलनिपतितमदनशरादिव भवदवनाय विशाल
स्वहृदयमर्मणि वर्म करोति सजलनलिनदलजालम्
॥ सा विरहे० ॥२॥

हे कृष्ण ! राधिका काम के बाण से अत्यन्त आतुर हो है। जलते हृदय में स्थित आपकी मोहनी मूर्ति को बचाने के लि जल से भिगोये कमल के पत्तों से राधा जी ने अपने हृदय ढक रक्खा है ॥ २ ॥

कुसुमविशिखशरतल्पमनल्पविलासकलाकमनीयम्
व्रतमिव तव परिरंभसुखाय करोति कुसुमशयनीयम्
॥ सा विरहे० ॥ ३ ॥

हे हरि ! वह राधा आपसे मिलने के हेतु कामदेव के बा के प्रहार से शरशय्यापर पड़ी है अर्थात् आप से मिलने के लि शरशय्याव्रत कर रही है ॥ ३ ॥

वहति च चलितविलोचनजलधरमाननकमलमुदारम्
विधुमिव विकट विधुंतुददंतदलनगलितामृतधारम्
सा विरहे० ॥ ४ ॥

बहती जलधारावाले लोचनोंसे अलंकृत राधाका सुन्दर मुख ऐसा मालूम पड़ता है जैसे राहु के भयंकर दाँतों से काट लिये जाने के कारण बहती अमृत धारा वाले चन्द्रमा का सुन्दर बिम्ब हो ॥ ४ ॥

विलिखति रहसि कुरंगमदेन भवंतमसमशरभूतम् ॥
प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवचूतम् ॥
सा विरहे० ॥ ५ ॥

हे हरि ! वह राधा एकान्त में स्थित होकर आपकी मूर्ति को कामदेव के रूप में चित्रित करती है और आपकी मूर्ति के नीचे मकर को और आपके हाथ में आम्ररूपी कामदेव के बाण को लिखकर प्रणाम करती है ॥ ५ ॥

प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणं पतिताहम् ।
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनु-दाहम् ॥ सा विरहे० ॥ ६ ॥

और नम्र होकर राधा यह कहती है कि हे माधव ! मैं तुम्हारे चरण कमल में पतित होकर प्राथना करती हूँ कि तुम्हारे वियोग होने पर आज सुधानिधि भी यह चन्द्रमा मेरे शरीर को दग्ध कर रहा है ॥ ६ ॥

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवंतमतीवदुरापम् ॥

विलपति हसति विषीदति रोदिति चंचति मुञ्चति तापम् ॥ सा विरहे ॥ ७ ॥

हे कुञ्जविहारी ! राधाजी किसी २ समय आपके स्वरूप का ध्यान करके और आपकी मनोहर मूर्ति को प्रत्यक्ष की भाँति देखकर अत्यन्त विलाप करती हैं और कभी आपको देखकर हँसा करती हैं, किसी समय आपके वियोगजनित दुःख से अत्यन्त रुदन करती हैं और आपसे मिलने के लिए इस निकुञ्ज में इधर-उधर बावली की भाँति घूमा करती हैं किसी समय आपके ध्यान में मग्न होकर आपकी नटवर मूर्ति के साथ विलाप कर आनन्द को भ. प्राप्त होती हैं अर्थात् इसी व्याज से चिन्तारूपी ताप को दूर करती हैं ॥ ७ ॥

श्री जयदेवभणितमिदमधिकं यदि मनसा नटनीयम्। हरिविरहाकुलवल्लवयुवतिसखीवचनं पठनीयम्।
सा विरहे ॥ ८ ॥

हे प्यारेभक्तों ! यदि अपने अन्त:करण को आनन्द में मग्न किया चाहो तो इस जयदेव रचित राधा वियोग के गीत का पाठ करो ॥ ८ ॥

आवासो विपिनायते प्रियसखीमालापि जालायते तापोऽपि श्वसितेन दावदहनज्वालाकलापायते।

तापि त्वद्विरहेण हन्त हरिणीरूपायते हा कथम् ।
कन्दर्पोऽपि यमायते विरचयन् शार्दूलविक्रीडितम् ॥

हे माधव ! दुर्भाग्य वश जैसे हरिणी सिंह से डरकर जलते हुए वनमें प्रवेश कर जाल में बँध जाती है, उसी भाँति राधाजी इस समय आपके विरह से हरिणी सदृश हो गई हैं। उनका निवास स्थान ज्वलित बन के तुल्य है, सब सखियाँ जाल की भाँति हैं श्वांस ही शरीर को जला रहा है और दुष्ट कामदेव हरिणी रूप राधा के पीछे शार्दूल रूपी यमराज होकर आपके वियोग में उसे मारना चाहता है ॥ १ ॥

देशाख्य एकतालिताले अष्टपदी ॥ १ ॥

स्तनविनिहितमपि हारमुदारम् । सा मनुते कृशतनु-रतिभारम् ॥ राधिकाविरहे तव केशव माधव वामन विष्णो ॥ ध्रु० ॥ १ ॥

हे केशव ! हे माधव ! हे विष्णो ! आपके विरह से व्याकुल वह राधा कृश (दुर्बल) शरीर के स्तनों पर रक्खे हुए उत्तमोत्तम हार को भार के समान मानती है ॥ १ ॥

सरसमसृणमपि मलयजपंकम् ।
पश्यति विषमिव वपुषि सशंकम् ॥ राधिका० ॥२॥

हे माधव ! आपके विरह से दुःखित वह राधा मलयागिरि के ओदे (गीले) चन्दन को भी विषवत् मानती है ॥ २ ॥

श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम् ।
मदनदहनमिव वहति सदाहम् ॥ राधिका० ॥ ३ ॥

हे कृष्ण ! वह राधा अत्यन्त लम्बी श्वाँसों को आपके विरह में कामाग्नि के समान धारण करती है । अभिप्राय यह कि वह श्वाँस भी जलाये देती है ॥ ३ ॥

दिशि दिशि किरति सजलकणजालम् ।
नयननलिनमिव विगलितनालम् ॥ राधिका० ॥ ४ ॥

हे माधव ! राधाजी के कमलनयन मृणाल से रहित जल भरे कमल की भाँति चारो ओर देख कर अश्रु पात करते हैं ॥ ४ ॥

नयनविषयमपि किसलयतल्पम् ।
कलयति विहितहुताशविकल्पम् ॥ राधिका० ॥ ५ ॥

हे कृष्ण ! वह राधा आपके वियोग में देखती हुई भी पल्लवों से बनी शय्या को सन्देह वश अग्नि के समान मानती है ॥ ५ ॥

त्यजति न पाणितलेन कपोलम् ॥

बालशशिनमिव सायमलोलम् ॥ राधिका० ॥ ६ ॥

हे कुञ्जविहारी ! वह राधा हथेली पर कपोल को रखकर ठी और उसका मुख सायंकाल के बाल चन्द्र की भाँति मालूम होता है ॥ ६ ॥

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ॥
विरहविहितमरणेव निकामम् ॥ राधिका० ॥ ७ ॥

हे श्रीकृष्णचन्द्रजी ! वह राधा आपके वियोग से अपने मरणका निश्चय करके हरि शब्द जपती है। अभिप्राय यह कि अपना अन्त समय जान कर भगवद् भजन करती है ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमिति गीतम् ॥
सुखयतु केशवपदमुपनीतम् ॥ राधिका० ॥ ८ ॥

यह राधा के विरह का वर्णन जयदेव कवि रचित भक्तजनों को सुखद हो ॥ ८ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे नवमः प्रबन्धः

सा रोमाञ्चति सीत्करोति विलपत्युत्कंपते ताम्यति
ध्यायत्यु द्भ्रमति प्रमीलति पतत्युद्याति मूर्च्छत्यपि ॥
तावत्यतनुज्वरे वरतनुर्जीवेन्न किन्ते रसात्
स्वर्वैद्यप्रतिम प्रसीदसि यदि त्यक्तोऽन्यथा हस्तकः ।१।

हे हरि ! वह राधा कभी विरह रूप विकार से ज्ञान
होती है, कभी शरीर में रोमाञ्च खड़े होने से काँपती है,
ग्लानि को प्राप्त होती है, कभी चिन्ता करती है, कभी अत
भ्रम को प्राप्त होती है, कभी नेत्रोंको बन्द कर शय्यापर पड़ी र
है, कभी-कभी इधर-उधर भ्रमवश खड़ी होकर देखती है,
मूर्छा को भी प्राप्त होती है, यह सब कामज्वरके चिन्ह राधा
सता रहे हैं। अश्विनीकुमार वैद्य के तुल्य यदि आप प्र
होकर राधा को दर्शन देंगे तो क्या वह शृङ्गार रसके
जीवित न होगी ? अवश्य ही जीवित होगी। यदि वैद्य
आप न जायेंगे तो छोड़ दिया गया है हाथ जिसका ऐसी
राधा अवश्य मृत्युको प्राप्त होगी ॥ १ ॥

स्मरातुरां दैवतवैद्यहृद्य त्वदंगसंगामृतमात्रसाध्यां
विमुक्तबाधांकुरुषे न राधामुपेन्द्रवज्रादपिदारुणोऽसि

हे अश्विनीकुमार सदृश वैद्य ! यदि आप अपने श
स्पर्शरूपी औषधि से, कामदेव पीड़ित राधा को अच्छा
करोगे तो हम भली भाँति मालूम कर लेंगे कि आपका ह
इन्द्र के वज्र से भी अधिक कठोर है ॥ २ ॥

कंदर्पज्वरसंज्वराकुल तनोराश्चर्यमस्याश्चिरम्
चेतश्चन्दनचन्द्रमः कमलिनीचिन्तासु संताम्यति ॥

न्तु क्षान्तिवशेन शीतलतनुं त्वामेकमेव प्रियम् ।
ायन्ती रहसि स्थिता कथमपि क्षीणा क्षणं प्राणिति ३

हे कृष्ण ! कामज्वर से व्याकुल तथा कृश शरीरवाली राधाका
च चन्दन, चन्द्र, और कमलिनीका ध्यान करने परभी सन्तप्त हो
ठता है, फिरभी शीतल देहवाले एक मात्र आपहीका ध्यान
रती हुई वह एकान्तमें येन-केन प्रकारेण जीवित है ॥ ३ ॥

क्षणमपि विरहः पुरा न सेहे
नयननिमीलनखिन्नया यया ते ।
श्वसिति कथमसौ रसालशाखां
चिरविरहेण विलोक्य पुष्पिताग्राम् ॥ ४ ॥

हे माधव ! भला जिस राधाको पहले, नेत्रोंके पलक गिरने
भी उत्पन्न आपके दर्शनकी बाधा से खेद होता था वही राधा
ली हुई आमकी मंजरी को देखकर कैसे जी सकती है ॥ ४ ॥

ृष्टिव्याकुलगोकुलावनवशादुद्धृत्य गोवर्धनं
भ्रद्वल्लवसुन्दरीभिरधिकानन्दाच्चिरं चुम्बितः ।
न्दर्पेण तदर्पिताधरतटोसिन्दूरमुद्राङ्कितो
ाहुर्गोपतनोस्तनोतु भवतां श्रेयांसि कंसद्विषः ॥५॥

ति श्रीगीतगोविन्दकाव्ये स्निग्धमाधवो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

वर्षासे व्याकुल गोकुलकी रक्षाके हेतु गोवर्द्धन पर्वत उखाड़कर अपनी कनिष्ठिका अंगुली पर धारण करनेवाले, सुन्दरियों द्वारा आनन्द पूर्वक दीर्घ कालतक चुम्बित और के वशीभूत हो गोपियों द्वारा रखे गये अधरोंसे लाल-लाल युक्त भुजाओंके धारणकरनेवाले, गोपवेषधारी कंस के आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आपका कल्याण करें ॥

इस प्रकारसे गीतगोविन्द काव्य के स्निग्धमाधव नामक चतुर्थ सर्गकी हिन्दी टीका समाप्त हुई ।

—❀०❀—

पंचमः सर्गः

अहमिह निवसामि याहि राधा-
मनुनय मद्वचनेन चानयेथाः ।
इति मधुरिपुणा सखी नियुक्ता
स्वयमिदमेत्य पुनर्जगाद राधाम् ॥१॥

राधाकी भेजी हुई सखी के प्रेमपूर्ण वचन सुनकर
कृष्ण ने उससे कहा—"मैं इसी कुञ्जमें बैठा हूँ, आप जाइये
र मेरी ओर से राधाको समझा-बुझाकर यहाँपर ले आइये" इस
ार श्रीकृष्णसे कही गई सखी राधा से जाकर पुनः बोली ॥१॥

देशवराडिरागे रूपकताले अष्टपदी ॥ १० ॥

हति मलयसमीरे मदनमुपनिधाय ।
स्फुटति कुसुमनिकरे विरहिहृदयदलनाय ॥
ाव विरहे वनमाली सखि सीदति ॥ ध्रु० ॥ १ ॥

हे राधे ! कामदेवको सहायक बनाकर मलयाचलकी हवा
पर और विरहिजनोंके हृदयोंका विदीर्ण करनेके लिये पुष्पोंके
यों के खिलनेपर हे सखि ! आपके विरहसे वनमाली
त हैं ॥ १ ॥

दहति शिशिरमयूखे मरणमनुकरोति ।
पतति मदनविशाखे विलपति विकलतरोऽ
तव विर० ॥ २ ॥

हे सखि! जिससमय चन्द्रमा अपने किरणोंसे श्रीकृ
जलाता है, उस समय श्रीकृष्ण मरनेके समय की व्यथा
पीड़ित होते हैं और जब कामदेव उनके ऊपर तीक्ष्ण बाण च
है तब वे अत्यन्त दुःखसे व्याकुल हो विलाप करने लगते हैं।

ध्वनति मधुपसमूहे श्रवणमपि दधाति ।
मनसि कलितविरहे निशि निशि
रुजमुपयाति ॥ तव विर० ॥ ३ ॥

हे प्रिये! भ्रमरोंका झङ्कार न सुनाइ दे इसलिये वे श्री
अपने कानोंको बन्द कर लेते हैं और विरहाक्रान्त हृदयमें
स्मरणसे उनकी व्यथा प्रति रात्रि बढ़ती जा रही है ॥ ३

वसति विपिनविताने त्यजति ललितधाम ।
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तव नाम । तव

हे सखि! आपके विरह में श्रीकृष्ण अपने सुन्दर रा
को छोड़कर घोर जङ्गलमें रह रहे हैं, पृथिवी पर ही सो
आपका नाम लेकर बारंबार विलाप करते हैं ॥ ४ ॥

(ण)ति पिकसमुदाये प्रतिदिशमनुयाति ।
(ह)सति मनुजनिचये विरहमपलपति नेति ॥ तव० ॥५॥

हे प्रियतमे ! कोयलोंके "कूहू-कूहू" करने पर श्रीकृष्ण चारो (ओ)र उन्मत्त की भाँति दौड़ते हैं, इसपर जब लोग उनपर हँसते (हैं), तब श्रीकृष्ण विरहको छिपाते हैं, और उससे कहते हैं कि (")तुम मत होओ" ॥ ५ ॥

(स्)फुरति कलरवरावे स्मरति भणितमेव ।
(त)व रतिसुखविभवे बहुगणयति गुणमतीव ॥तव० ॥६॥

हे सखि ! पक्षियों के मनोहर कलरवको सुनकर कृष्णको (आ)पकी मधुर वाणीका स्मरण आ जाता है और आपकी रतिके (आ)नन्दका काल्पनिक अनुभव कर वे रतिसुखको बारंबार बखाना (क)रते हैं ॥ ६ ॥

(त्)वदभिधशुभदमासं वदति नरि शृणोति ।
(त)मपि जपति सरसं परयुवतिषु न रतिमुपैति ॥तव० ॥७॥

हे प्रिये ! जब कोई प्राणी आपके नाम वाला मंगलमय (वै)शाख मास का नाम लेता है तब कृष्ण उसे अति प्रेमके साथ (स)ुनते हैं और जपते हैं, अन्य युवतियों के साथ रति भी नहीं (क)रते ॥ ७ ॥

भणति कविजयदेवे विरहिविलसितेन ।
मनसि रभसविभवे हरिरुदयतु सुकृतेन ॥ तव० ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् के वियोगरूपी वर्णनसे आ-न्दयुक्त जयदेवकविके अन्तःकरणमें पुण्यसे श्रीकृष्ण प्रकट हों।

गुर्जररागेण एकतालिताले अष्टपदी ॥ ११ ॥

पूर्वं यत्र समं त्वया रतिपतेरासादिताः सिद्धय-
स्तस्मिन्नेव निकुञ्जमन्मथमहातीर्थे पुनर्माधवः ।
ध्यायंस्त्वामनिशं जपन्नपि तवैवालापमन्त्रावलिं
भूयस्त्वत्कुचकुम्भनिर्भरपरीरम्भामृतं वाञ्छति ॥ १ ॥

हे राधे ! जिस निकुञ्जमें सर्व प्रथम आपके साथ भगवान् श्रीकृष्णने कामदेवकी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं आज उसी कामदेव के महातीर्थ ऐसे कुञ्जमें बैठकर श्रीकृष्ण दिन-रात आपका चिन्तन करते हुए, आपके नामाक्षरों से युक्त मन्त्रों को जपते और आपके कलशतुल्य स्तनोंके दृढालिङ्गनरूपी अमृतकी अभिलाषा करते हैं ॥ १ ॥

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेषम् ।
न कुरु नितंबिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ॥

रसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ॥
पीपीनपयोधरमर्दनचंचलकरयुगशाली ॥ध्रु०॥१॥

हे प्रिये ! गोपियोंके पुष्टस्तनोंके मलनेमें चञ्चल हाथों वाले नमाली, जहाँपर मन्द मन्द पवन चल रहा है ऐसे यमुना के ट पर बैठे हैं । इसलिये हे नितम्बिनि ! रतिके सुखका सार ऐसे भिसारमें [संकेतस्थानमें] बैठे हुए कामदेवके सदृश सुन्दर अपने णेशके समीप चलनेमें विलम्ब न करिये ॥ १ ॥

मसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदुवेणुम् ।
हु मनुते तनुते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुम् ॥
धीर समीरे० ॥ २ ॥

हे सखी ! श्रीकृष्ण मधुर ध्वनिसे आपके नाम के संकेत से पुक्त वंशी बजा रहे हैं और आपके शरीरके स्पर्श को प्राप्त धूलि जो पवन द्वारा उड़कर उन तक पहुँच रही है, उसके स्पर्श अपने को धन्य समझते हैं ॥ २ ॥

तति पतत्रे विचलतिपत्रे शंकितभवदुपयानम् ।
चयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम् ॥
धीर समीरे० ॥ ३ ॥

हे राधे ! पक्षियोंके उड़नेके शब्दको तथा पत्तोंकी खड़-खड़ा टको सुनकर श्रीकृष्ण आपके आगमनकी सम्भावना करते हैं

और चकित होकर आपके आगमन मार्गको देखने लगते हैं शय्या सजाने लगते हैं ॥ ३ ॥

मुखरमधीरं त्यज मंजीरं रिपुमिव केलिसुलोलं
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुंजं शीलय नीलनिचोलं
धीर समीरे० ॥ ४ ॥

हे प्रिये! शब्दायमान और रतिक्रीडाके समय चञ्चल शत्रुकी तरह इन अपने नूपुरोंको जल्द से जल्द निकाल दीजिये और नीले वस्त्रधारण कर घने इस कुञ्जमें चलिये ॥ ४ ॥

उरसि मुरारेरुपहितहारे घन इव तरलबलाके।
तडिदिव पीते रतिविपरीते राजसि सकृतविपाके
धीर समीरे० ॥ ५ ॥

हे पीतवर्णं राधे! चञ्चल बकुल पंक्ति से युक्त मेघकी हीराके हारसे सुशोभित तथा बड़े पुण्य से उपलब्ध श्रीकृष्णके वक्षस्थलपर विपरीत रति करके बिजली की तरह चमकिये ॥ ५ ॥

विगलितवसनं परिहृतरशनं घटय जघनमपिधानं
किसलयशयने पंकजनयने निधिमिव हर्षनिधानं
धीर समीरे० ॥

हे प्रिये ! कोमल-कोमल पत्तोंके ऊपर सोनेवाले कमल ...यन श्रीकृष्णके ऊपर, वस्त्र और करधनी उतार कर आनन्द का ...जाना अपनी जाँघको मिलाइये ॥ ६ ॥

...रिरभिमानी रजनिरिदानीमियमपि याति विरामम्
...रु मम वचनं सत्वररचनं पूरय मधुरिपुकामम् ॥
धीर स० ॥ ७ ॥

हे राधे ! हरि अभिमानी हैं और इस समय यह रात भी ...यतीत हुई जा रही है, इसलिये मेरे कहे हुए वचनों को शीघ्र ...फल कीजिये तथा श्रीकृष्णकी इच्छा पूरी करिये ॥ ७ ॥

...ीजयदेवे कृतहरिसेवे भणति परमरमणीयम् ॥
...मुदितहृदयं हरिमतिसदयं नमत सुकृतकमनीयम् ॥
धीरसमीरे० ॥ ८ ॥

हरिकी सेवा करने वाले जयदेव कविके इस गीत के परमर-...णीय गानेपर अत्यन्त प्रसन्नचित्तवाले, कृष्णको प्रणाम है ॥८॥

...वकिरति मुहुः श्वासान्नाशाः पुरो मुहुरीक्षते
...विशति मुहुः कुञ्जं गुञ्जन् मुहुर्बहु ताम्यति ।
...चयति मुहुः शय्यां पर्याकुलं मुहुरीक्षते
...दनकदनक्लान्तः कान्ते प्रियस्तव वर्तते ॥ १ ॥

हे प्रिये ! कामपीड़ित आपके प्रिय बारम्बार साँस लेते हैं पुनः पुनः दिशाओं की ओर देखा करते हैं, बड़बड़ाते हुए पर बार कुञ्जमें आते-जाते हैं, बारम्बार शय्याकी रचना किया करते हैं और अधीरता से इधर-उधर देखा करते हैं ॥ १ ॥

त्वद्वाक्येन समं समग्रमधुना तिग्मांशुरस्तंगतो
गोविन्दस्य मनोरथेन च समं प्राप्तं तमः सांद्रत
कोकानां करुणस्वनेन सदृशी दीर्घा मदभ्यर्थन
तन्मुग्धे विफलं विलंबनमसौ रम्योऽभिसारक्षणः॥

हे राधे ! आपके उत्तरकी प्रतीक्षाके साथ साथ दे सूर्य भी अस्त हो गया, कृष्णके मनोरथके साथ-साथ यह अ भी घना हो गया, चकवा-चकवीके करुण विलाप के समा मेरी लम्बी प्रार्थना भी समाप्त हो गयी इसलिये अब हे सुन्दरि चलने में विलम्ब करना व्यर्थ है, क्योंकि छिपकर चलनेका रहे समय है ॥ २ ॥

आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्त
त्प्रोद्बोधादनु सम्भ्रमादनु रतारम्भादनु प्रीतयो
अन्यार्थं गतयोर्भ्रमान्मिलितयोः सम्भाषणैर्जा
र्दम्पत्योर्निशि का न को न तमसि व्रीडाविमिश्रोरस

सखि ! अन्धेरेके समय स्त्री तथा पुरुषके सङ्केतस्थानमें मिलने और परस्पर भाषणसे परिचय होने पर आलिङ्गन, चुम्बन, कुच-र्दन, कुचोंपर नखक्षत, कामोद्दीप्ति उसके पश्चात् रतिका आरम्भ ता है, ऐसे समय लज्जासंयुक्त दोनों प्रेमी-प्रेमिकाओंको कौन-न रस प्राप्त नहीं होते ? ॥ ३ ॥

मयचकितं विन्यस्यन्तीं दृशौ तिमिरे पथि
ततरु मुहुः स्थित्वा मन्दं पदानि वितन्वतीम् ॥
यमपि रहः प्राप्तामङ्गैरनंगतरङ्गिभिः
सुखि सुभगः पश्यन् स त्वामुपैतु कृतार्थताम् ॥४॥

हे सखि ! अन्धेरी रातमें भयसे चकित चारो ओर देखने-ली, वृक्षोंके नीचे बार-बार ठहर-ठहरकर धीरे-धीरे पैरों को ानेवाली, जिसके सारे शरीर में भगवान् कामदेव व्याप्त हो हैं ऐसी आपको संकेत स्थलमें देखकर सौभाग्यशाली श्रीकृष्ण -कृत्य होवें ॥ ४ ॥

ामुग्धमुखारविन्दमधुपस्त्रैलोक्यमौलिस्थली
ध्योचितनीलरत्नमवनीभारावतारक्षमः ॥
च्छन्दं व्रजसुन्दरीजनमनस्तोषप्रदोषश्चिरं
तध्वंसनधूम केतुरवतु त्वां देवकीनन्दनः ॥ ५ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे अभिसारिकावर्णने साकां
पुण्डरीकाक्षो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

राधाके सुन्दर मुखरूपी कमलके भ्रमररूप, तीनों लो
मुकुटरूप, वेषरचनाके लिये नीलमणिके समान, पृथ्वीका अ
हलका करने में समर्थ, व्रजकी अङ्गनाओं के चित्तको प्र
करनेके लिए संध्यारूप, कंसके विनाश करनेमें धूमकेतु (पु
च्छतारा) के समान देवकीनन्दन आपकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

इस प्रकारसे गीतगोविन्द काव्यके साकांक्षपुण्डरीकाक्ष
पञ्चम सर्गकी हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥

अथ षष्ठः सर्गः

आर्या–
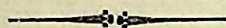
थ तां गंतुमशक्तां चिरमनुरक्तां लतागृहे दृष्ट्वा ॥
चरितं गोविन्दे मनसिजमन्दे सखी प्राह ॥ १ ॥

इसके अनन्तर गमन करनेमें असमर्थ तथा चिरकालसे अनु-
रागिणी राधाको लतागृहमें देखकर कामदेव से पीड़ित श्रीकृष्ण
एक सखीने राधाका चरित्र कहा ॥ १ ॥

श्यति दिशि २ रहसि भवन्तम् ।
वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम् ॥
ाथ हरे जय नाथ हरे सीदति राधा वासगृहे ॥ १ ॥

हे नाथ ! आपके अधर-रूपी मधुर मधुको पीति हुई एकान्त
बैठी हुई राधा प्रति दिशाओं में आपही को देख रही है । हे
थ, हे हरे ! हे नाथ, हे हरे । आपकी जय हो । राधा वासा-
हमें आपके लिये दुःखी हो रही है ॥ १ ॥

वदभिसरणरभसेन वलंती ॥
तति पदानि कियन्ति चलन्ती ॥ नाथहरे० ॥२॥

हे कृष्ण ! वह राधा आपके विरह में इतनी दुर्बल हो गई है कि ज्योंही वेगसे आपके समीप आने लगती है त्योंही दो-चार पैर चलकर गिरने लगती है ॥ २ ॥

विहितविशदबिसकिसलयवलया ॥
जीवति परमिह तव रतिकलया ॥ नाथहरे० ॥ ३ ॥

हे कृष्ण ! सफेद कमलनाल तथा नवीन पल्लवके कड़े पहननेवाली वह राधा एकमात्र आपके रतिके लोभसे जीवित है ॥ ३ ॥

मुहुरवलोकितमण्डनलीला ॥
मधुरिपुरहमिति भावनशीला ॥ नाथहरे० ॥ ४ ॥

हे नाथ ! वह राधा आपके समान अपने वेष की रचना कर अत्यन्त अनुरागसे पुनःपुनः अपने आभूषणोंकी शोभाको निहारती है तथा "मैं ही कृष्ण हूँ" इस प्रकारकी भावना करती है ॥ ४ ॥

त्वरितमुपैति न कथमभिसारम् ॥
हरिरिति वदति सखीमनुवारम् ॥ नाथहरे० ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! वह राधा अपनी सखीसे बार-बार यह कहती है कि हरि अभिसार (संकेतस्थान) में जल्दी क्यों नहीं आ रहे हैं ? ॥ ५ ॥

लष्यति चुम्बति जलधरकल्पम् ॥
रिरुपगत इति तिमिरमनल्पम् ॥ नाथहरे० ॥ ६ ॥

हे मधुरिपो ! वह राधा मेघके समान प्रगाढ़ अन्धकारको
कर आपहीको आया हुआ समझ आलिङ्गन तथा चुम्बन
ती है ॥ ६ ॥

मति विलम्बिनि विगलितलज्जा ॥
लपति रोदिति वासकसज्जा ॥ नाथहरे० ॥ ७ ॥

हे कंसरिपो ! आपके बिलम्ब करने पर वासकसज्जा की भाँति
ा निर्लज्ज होकर रोती तथा विलाप करती है ॥ ७ ॥

ीजयदेवकवेरिदमुदितम् ॥
सिकजनं तनुतामतिमुदितम् ॥ नाथहरे० ॥ ८ ॥

यदेवकविकृत यह गीत रसिकजनों के आनन्द को बढ़ावे॥८॥

पुलपुलकपालिः स्फीतसीत्कारमन्त-
नितजडिमकाकुव्याकुलं व्याहरन्ती ॥
ा कितव विधायामन्दकन्दर्पचिन्तां
जलधिनिमग्ना ध्यानलग्ना मृगाक्षी ॥ १ ॥

हे धूर्त ! आपका ध्यान करनेवाली और शृङ्गारादि रस रूपी
द्रमें डुबकी लगानेवाली वह मृगनयनी राधा, कभी (ध्यान

करते समय) अत्यधिक कामकी चिन्तासे आपका शरीर स्पर्श ऐसा समझ कर रोमाञ्चित हो उठती है, आपने अधर चुंबन ऐसा समझकर सी-सी करती है, कभी जड़त्वके प्रादुर्भाव हो वह व्याकुल होने लगती है ॥ १ ॥

अंगेष्वाभरणं करोति बहुशः पत्रेऽपि संचारिणि
प्राप्तं त्वां परिशङ्कते वितनुते शय्यां चिरं ध्यायति
इत्याकल्पविकल्पतल्परचनासंकल्पलीलाशत-
व्यासक्तापि विना त्वया वरतनुर्नैषा निशां नेष्यति।

हे कृष्ण! पत्तों तककी खड़-खड़ाहट सुनकर वह राधा अंगोंमें आभूषणोंको धारण करने लगती है, ऐसा समझ आप आ रहे हैं, शय्याको सजाने लगती है एवं ध्यानमग्न अनेकों विचारोंको करने लगती है, परन्तु बिना आपके रात नहीं कटती ॥ २ ॥

किं विश्राम्यसि कृष्णभोगिभवने भांडीरभूमि
भ्रातर्यासि न दृष्टिगोचरमितः सानन्दनन्दास्पद
राधाया वचनं तदध्वगमुखान्नन्दान्तिके गोपतो
गोविन्दस्य जयन्ति सायमतिथिप्राशस्त्यगर्भा गिरः

इति श्रीगीतगोविन्दे वासकसज्जावर्णने सोत्कण्ठवैकुण्ठो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

पथिक ! कृष्णसर्पके भवनरूप इस भाण्डीर वृक्षके नीचे क्यों
श्राम करते हो ? यहाँ तो कृष्ण—सर्पका निवास स्थान है।
-भाई ! आपको नन्दबाबाका आनन्द भवन नहीं दिखलाई
ता ? इस प्रकार राधा द्वारा कहे हुए वचनोंको पथिक-मुखसे
कर, नन्दबाबाके सम्मुख अपनी कलई खुलने के भयसे
वचनोंको छिपानेवाले श्रीकृष्णने पथिकसे कहा—"आइये
का स्वागत है" इत्यादि कहकर वह बात उड़ादी। इस तरह
कृष्णसे कथित वाणी जययुक्त हो ॥ २ ॥

इस प्रकारसे गीतगोविन्द काव्यके सोत्कण्ठवैकुण्ठनामक
षष्ठ सर्गकी हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥
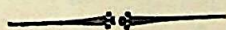
अथ सप्तमः सर्गः

अत्रान्तरे च कुलटा कुलवर्त्मपात-
सञ्जात पावक इव स्फुटलाञ्छन श्रीः ॥
वृन्दावनान्तरमदीपयदंशुजालैर्दि-
क्सुन्दरीवदनचन्दनबिन्दुरिन्दुः ॥ १ ॥

इसी समय व्यभिचारिणी स्त्रियोंके मार्गको रोकनेसे उत्पन्न पापके कारणही मानों स्पष्ट कलङ्कित तथा पूर्वदिशारूपी स्त्रीके मुखके चन्दन—बिन्दुके सदृश चन्द्रमाने अपनी किरणोंसे वृन्दावनको प्रकाशित कर दिया॥ १ ॥

आर्या—

प्रसरति शशधरबिम्बे विहितविलम्बे च माधवे विधुरा।
विरचितविविधविलापं सा परितापं चकारोच्चैः॥

चन्द्रबिम्बके फैल जानेपर और श्रीकृष्णके देर होनेसे विरहिणी राधा, नाना प्रकारसे, जोर-जोरसे विलाप करने

कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम् ॥
मम विफलमेतदनुरूपमपि यौवनम् ॥
ामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवञ्चिता॥ध्रु०॥१॥

राधाने कहा-कहे हुए समय पर भी कृष्ण वनमें नहीं आये यह ड़े दुःख की बात है मेरा यह यौवन भी वृथा है, सखियोंसे ठगी यी मैं अब किसकी शरणमें रहूँ अथवा जलाश्रय लेना ही चित है। (डूब मरना चाहिये) ॥ १ ॥

दनुगमनाय निशि गहनमपि शीलितम् ॥
न मम हृदयमिदमसमशरकीलितम् ॥यामि०॥२॥

जिन श्रीकृष्णके लिए मैंने रात्रि के समय इस घोर जंगलमें स किया, उन्हीं कृष्णने मेरे हृदयमें कामदेवके असह्य बाणोंको ड़ दिया ॥ २ ॥

म मरणमेव वरमिति वितथकेतना ॥
कमिति विषहामि विरहानलमचेतना ॥यामि०॥३॥

इस जंगलमें अब मैं ज्ञान शून्य होकर विरहकी आग कैसे ह सकती हूँ, मेरा यह शरीर भी वृथा है इससे मृत्यु कहीं च्छी है ॥ ३ ॥

मामहह विधुरयति मधुरमधुयामिनी ॥
कापि हरिमनुभवति कृतसुकृतकामिनी ॥ यामि०

अत्यन्त खेद है कि मनोहर वसन्तकी ये रात्रियाँ मुझे दे रही हैं और ये ही रात्रियाँ अन्य गोपाङ्गनाको जिसने पुण्य है, श्रीकृष्णके साथ आनन्द का अनुभव करा रही हैं ॥ ६

अहह कलयामि वलयादिमणिभूषणम् ॥
हरिविरहदहनवहनेन बहुदूषणम् ॥ यामि० ॥

हन्त, श्रीकृष्णके विरहमें रत्न जड़े कङ्कण आदि आ दूषण तुल्य हैं। अर्थात्-बिना पतिके मेरा सारा शृङ्गार व्यर्थ है

कुसुमसुकुमारतनुमतनुशरलीलया ॥
स्रगपि हृदि हन्ति मामतिविषमशीलया ॥यामि०

कामदेवके बाणोंकी लीलासे फूलोंके समान कोमलशरी मुझे, स्वभावसेही मृदु यह पुष्पमाला असह्य आघात पहुँचाती

अहमिह निवसामि न गणितवनवेतसा ॥
स्मरति मधुसूदनो मामपि न चेतसा ॥ यामि०

मैं तो प्यारे कृष्णके लिए जंगल और बेतोंकी पर कर यहाँ रह रही हूँ, किन्तु मधुसूदन मुझे हृदयसे भी स्मरण करते ॥ ७ ॥

रिचरणशरणजयदेवकविभारती ॥
ततु हृदि युवतिरीव कोमलकलावती ॥ यामि०॥८॥

कोमल कलासे युक्त, श्रीकृष्णके चरणके शरणवाली जयदेव
की यह वाणी आपके हृदयमें शृङ्गारकी समस्त कलाओं से
युवतियों की तरह बसे ॥ ८ ॥

किं कामपि कामिनीमभिसृतः किं वा कलाकेलिभि-
र्बद्धो बन्धुभिरन्धकारिणि वनोपान्ते किमु भ्राम्यति ।
कान्तः क्लान्तमना मनागपि पथि प्रस्थातुमेवाक्षमः
सङ्केतीकृतमञ्जुमञ्जुललताकुञ्जेऽपि यन्नागतः ॥१॥

सङ्केतस्थानमें कृष्णके न आनेपर राधा सोचने लगीं—क्या
तम अन्य कामिनीके पास तो नहीं चले गये? अथवा मित्रों के
क्रीडामें तो नहीं फँस गये? अथवा इस अरण्यमें अन्धेरेके
रण इतस्ततः भूलकर कहीं भटकते तो नहीं हैं? अथवा मेरी भाँति
रोगी होकर चलनेमें असमर्थ तो नहीं हो गये? जैसे कि
त होने पर भी उनके वियोगसे एक पग भी मैं नहीं चल सकती
ही वह भी हो गये क्या? ॥ १ ॥

थागतां माधवमन्तरेणसखीमियं वीक्ष्य विषादमूकाम्
शंकमाना रमितं कयापि जनार्दनं दृष्टवदेतदाह॥२॥

इसके बाद कार्यकी सिद्धि न होनेके कारण दुःखी मौन होकर अकेली आती हुई सखीको देखकर क्या, हरी किसी अन्य गोपाङ्गनाके साथ तो नहीं रमण करते हैं ? ऐसी प्रत्यक्ष देखे हुए की तरह राधाने कहा ॥ ३ ॥

वसन्त रागे एकतालीताले अष्टपदी

स्मरसमरोचितविरचितवेशा ॥

गलितकुसुमदलविलुलितकेशा ॥

कापि चपला मधुरिपुणा ।

विलसति युवतिरधिकगुणा ॥ ध्रु० ॥

हे प्रिये ! कामदेवके साथ युद्ध करनेके अनुरूप रचे हुए वाली इधर-उधर गिरे हुए बालोंके फूलवाली हमसे अधिक कोई चपल कामिनी कृष्णके साथ रमण कर रही है क्या ?॥

हरिपरिरम्भणवलितविकारा ॥

कुचकलशोपरि तरलितहारा ॥ कापि च० ॥

हे सखि ! श्रीकृष्णके आलिङ्गनसे उत्पन्न वाली तथा कलशके समानकुचोंके ऊपर हिलते हुए हार कोई कामिनी कृष्णके साथ बिलास कर रही है क्या ? ॥

विचलदलकलिताननचन्द्रा ॥

तदधरपानरभसकृततन्द्रा ॥ कापि च० ॥ ३ ॥

हे प्रिये ! जिनके मुख चन्द्रपर चंचल अलकें शोभित हो
हैं तथा प्रिय द्वारा अधरपानसे जिसे आलस्य आ रहा है,
किसी रमणीके साथ कृष्णचन्द्र रमण कर रहे हैं ॥ ३ ॥

लकुण्डलदलितकपोला ॥
रितरशनजघनगतिलोला ॥ कापि च० ॥ ४ ॥

चञ्चल कुण्डलोंकी रगड़ से जिसके कपोल घिस गये हैं,
और झन-झन शब्द करनेवाली करधनी युक्त कमरकी चञ्चल
वाली कोई व्रजवनिता कृष्णके साथ आनन्द कर
है ॥ ४ ॥

यतविलोकितलज्जितहसिता ।
विधकूजितरतिरसरसिता ॥ कापि च० ॥ ५ ॥

हे प्रिये ! रति क्रीडाके समय अनेक प्रकारकी मधुर बातोंको
ी हुई श्रीकृष्णके अवलोकनसे लज्जा भावको प्राप्त और मुस-
ी हुई कोई गोप-ललना कृष्णके साथ रम रही है ॥ ५ ॥

ुलपुलकपृथुवेपथुभंगा ।
सितनिमीलितविकसदनंगा ॥ कापि च० ॥ ६ ॥

हे सखी ! रतिश्रमसे उत्पन्न श्वाँस लेनेवाली तथा नेत्रोंकोबंद
नेसे जिसके प्रत्यङ्गमें काम भाव व्याप्त हो गया है, एवं रतिके

आनन्दसे अत्यधिक रोमाञ्चित शरीरवाली कोई व्रजवनिता
साथ विहार कर रही है ॥ ६ ॥

श्रमजलकणभरसुभगशरीरा ।
परिपतितोरसि रतिरणधीरा ॥ कापि च० ॥ ७ ॥

रति-श्रमसे उत्पन्न पसीनेके बिन्दुओंसे सुन्दर शरीरवाली, रतिके समय पतिके वक्षःस्थलपर सोनेवाली, रतिरूप समरमें गम्भीर, कोई व्रजांगना कृष्णके साथ आनन्द कर रही है।

श्रीजयदेवभणितमतिललितम् ।
कलिकलुषं शमयतु हरिरमितम् ॥ कापि च० ॥

अतिसुन्दर जयदेव कविकृत हरिके रमणका वर्णन कलि पापोंको शान्त करे ॥ ८ ॥

विरहपांडुमुरारिमुखाम्बुज-
द्युतिरयं तिरयन्नपि वेदनाम् ।
विधुरतीव तनोति मनोभुवः ।
सुहृदये हृदये मदनव्यथाम् ॥ १ ॥

हे सुहृदये! मेरे विरह से पीले रंगवाले श्रीकृष्णके मुख के सदृश कान्तिवाला कामदेवका मित्र यह चन्द्र आनन्द होनेपर भी मेरे चित्तमें काम व्यथा बढ़ाता है ॥ १ ॥

गुर्जररागे एकतालीताले अष्टपदी ॥ १५ ॥

मुदितमदने रमणीवदने चुम्बनवलिताधरे ॥
ामदतिलकं लिखति सपुलकं मृगमिव रजनीकरे ।
ते यमुनापुलिनवने विजयी मुरारिरधुना ॥ध्रु०॥१॥

हे प्रिये ! कामसे देदीप्यमान चुम्बन करनेसे संकुचित और
दर ओठों वाली गोप वधूके मुखपर श्रीकृष्ण, दर्पसे कस्तूरीका
लक करते हैं, जैसे चन्द्रमें मृगचिन्ह है। ऐसे कामक्रीड़ा
जयी आनन्द कन्द कृष्ण इस समय यमुना तीरवाले उपवनमें
ण कर रहे हैं ॥ १ ॥

नचयरुचिरे रचयति चिकुरे तरलित तरुणानने ॥
रुवककुसुमं चपलासुषुमं रतिपतिमृगकानने ॥
रमते य० ॥ २ ॥

हे सखि ! मेघोंके झुण्डके सदृश सुन्दर, युवतियोंके चित्तको
ञ्चल करनेवाले, कामदेवरूपी हरिणके वनरूप गोपवनिता की
टीमें कृष्ण बिजलीके समान शोभित पीले-पीले कुरैयाके पुष्प
थ रहे हैं ॥ २ ॥

टयति सुघने कुचयुगगगने मृगमदरुचिरूषिते ॥
णसरसमलंतारकपटलंनखपदशशिभूषिते ॥रमते॥३॥

हे प्रिये ! कस्तूरी की धूलिसे धूसरित उत्तुङ्गकुचों पर नख
चन्द्रसे युक्त श्रीकृष्ण निर्मल मणियों के हाररूपी तारागणों
पहिनाते हैं ॥ २ ॥

जितबिसशकले मृदुभुजयुगले करतलनलिनीदले
मरकतवलयं मधुकरनिचयं वितरति हिमशीतले
रमते य० ॥ ४

हे सखि ! श्रीकृष्ण भगवान् कमलदण्ड की कोमलताको
नेवाले नलिनीदल के समान हथेली वाले, बरफके समान शी
हाथों में कमल के ऊपर भौंरों के समान पन्ना रत्न जड़े कं
पहिना रहे हैं ॥ ४ ॥

रतिगृहजघने विपुलापघने मनसिजकनकासने
मणिमयरशनं तोरणहसनं विकिरति कृतवासने
रमते य० ॥ ५

हे प्रिये ! श्रीकृष्ण कामदेव के लिए सुवर्णके आसन स
सुवासित, विस्तृत और मोटे मोटे रतिके निवास स्थानरूपी ज
स्थलोंपर मणिरचित तोरण के समान करधनी पहिना रहे हैं

चरणकिसलये कमलानिलये नखमणिगणपूजिते
बहिरपवरणं यावकभरणं जनयति हृदि योजिते
रमते य० ॥

हे प्रिये ! वह श्रीकृष्णचन्द्रजी, नखरूपी मणियों से सुशोभित
ोंके निवासस्थान, कोमल मोमल पल्लवों के समान किसी
गनाके चरणों को अपने वक्षः स्थलपर रखकर उनमें महावर
रहे हैं ॥ ६ ॥

ति भृशं काममपि सुदृशं खलहलधरसोदरे ।
फलमवसं चिरमिह विरसं वद सखि विटपोदरे ॥
रमते य० ॥ ७ ॥

हे प्रिये ! अब कि वह बलरामका छोटाभाई किसी सुनयनी
ाथ विहार करता है, तब हे सखि ! बताओ मैं क्यों इस
नीचे बिना रसके उसकी प्रतीक्षा करूँ ॥ ७ ॥

रसभणने कृतहरिगुणने मधुरिपुपदसेवके ।
लियुगचरितं न वसतु दुरितं कविनृपजयदेवके ॥
रमते य० ॥ ८ ॥

शृङ्गार रसका वर्णन करनेवाले, हरि-गुण-गान करनेवाले
कृष्णके चरण-सेवक, जयदेव कविके अन्तः करणमें कलियुगके
चरित का वास न हो ॥ ८ ॥

ातः सखि निर्दयो यदि शठस्त्वं दूति किं दूयसे ।
च्छन्दं बहुवल्लभः स रमते किं तत्र ते दूषणम् ॥

पश्याद्य प्रियसंगमाय दयितस्याकृष्यमाणं गुणै-
रुत्कण्ठार्तिभरादिव स्फुटदिदं चेतः स्वयं यास्यति

हे सखि दूति ! यदि वे निर्दयी ठग कृष्णचन्द्र नहीं आं
इसमें क्यों दुःखी हो रही है, क्योंकि वे तो अनेकों महिलाओं
हैं, उनके साथ स्वेच्छासे रमण करते हैं, इसमें तेरा क्या दे
देख, आज उस प्रियतम कृष्णके गुणों के वशीभूत होकर यह
उत्कंठासे स्वयंही उनके समीप मिलने जायगा ॥ १ ॥

देशांकरागे रूपकताले अष्टपदी ॥ १६ ॥

अनिलतरलकुवलयनयनेन ।
तपति न सा किसलयशयनेन ।
सखि या रमिता वनमालिना ॥ ध्रु० ॥ १ ॥

हे सखि ! पवनसे चलायमान कमलके समान नेत्रवाले
मालीके साथ जिस युवतीने विहार किया, वह कोमल
पल्लवों की शय्यापर सोने से दुःखी नहीं होती ॥ १ ॥

विकसितसरसिजललितमुखेन ।
स्फुटति न सा मनसिजविशिखेन ॥ सखि० ॥ २ ॥

हे आलि ! खिले हुए कमलके समान मुखवाले श्रीकृ
साथ सम्भोग करनेवाली व्रजवनिता, कामबाणोंसे पीड़ित
होती ॥ २ ॥

मृतमधुरमृदुतरवचनेन ॥
लति न सा मलयजपवनेन ॥ सखि या० ॥ ३ ॥

हे प्रिये ! अमृतके समान मधुर और कोमलभाषी कृष्णके
विहार करनेवाली व्रजवनिता मलयाचलकी वायु से कभी
ई नहीं जाती ॥ ३ ॥

लजलरुहरुचिकरचरणेन ॥
ठति न सा हिमकरकिरणेन ॥ सखि या० ॥ ४ ॥

हे सखि ! स्थलकमलके समान सुन्दर हाथ पैर वाले कृष्णके
य आनन्दानुभव करने वालीको चन्द्रमाकी शीतल किरणें कभी
सताती ॥ ४ ॥

लजलदसमुदयरुचिरेण ॥
ति न सा हृदि विरहभरेण ॥ सखि या० ॥ ५ ॥

हे प्रिये ! जलपूर्ण मेघके सदृश वर्णवाले श्रीकृष्णके साथ जिस
णीने रमण किया उसे चिरकालके वियोगकी व्यथा नहीं पीड़ा
॥ ५ ॥

नकनिकष रुचिशुचिवसनेन ॥
सिति न सा परिजनहसनेन ॥ सखि या० ॥ ६ ॥

हे आलि ! सुवर्णके समान पीताम्बरधारीकृष्णकेसाथ सम्भोग
रनेवाली को सखियोंके ताना मारने से दुख नहीं होता ॥६॥

सकलभुवनजनवरतरुणेन ॥
वहति न सा रुजमतिकरुणेन ॥ सखि या० ॥

हे सखि ! समस्त लोकके लोगोंमें सर्वश्रेष्ठ तरुण और दयालु कृष्णके साथ जिस गोप-वधूने विहार किया उसे काम नहीं सताती ॥ ७ ॥ ✓

श्रीजयदेवभणितवचनेन ।
प्रविशतु हरिरपि हृदयमनेन ॥ सखि या० ॥

श्रीजयदेवकविके इस प्रकार के वचनों से कृष्ण भ हृदय में प्रवेश करें ॥ ८ ॥

मनोभवानन्दन चन्दनानिल
प्रसीद रे दक्षिण मुञ्च वामताम् ।
क्षणं जगत्प्राण विधाय माधवं
पुरो मम प्राणहरो भविष्यसि ॥ १ ॥

हे कामदेवको आनन्दित करनेवाले मलयाचल सम्बन्धी वायु ! कृपया अपनी कुटिलता त्यागिये, हे जगत्प्राण ! मेरे माधवको उपस्थित कर तब मेरे प्राण हरिये ॥ १ ॥

रिपुरिव सखी संवासोऽयं शिखीव हिमानिलो
विषमिव सुधारश्मिर्यस्मिन् दुनोति मनोगते ॥

दृयमदये तस्मिन्नेवं पुनर्बलते बलात्
वलयद्दृशां वामः कामो निकामनिरंकुशः ॥ २ ॥

हे प्रिये ! जब उस प्रियतम श्रीकृष्ण का स्मरण हो जाता है
ब सखियोंके साथ उठना बैठना शत्रुवत्, ठंडी वा अग्निवत्,
मृतकिरणधारी चन्द्र विषवत्, अति क्लेशकारी मालूम पड़ते हैं
तना होनेपर भी, उसी निर्दयी कृष्णकी याद आ जानेपर मेरा
चित्त उनकी ओर झुका जाता है । वास्तवमें-मृगनयनियोंके लिए
ामदेव अत्यन्त दुष्ट तथा निरंकुश है ॥ २ ॥

ाधां विधेहि मलयानिल पंचबाण
ाणान् गृहाण न गृहं पुनराश्रयिष्ये ।
कं ते कृतान्तभगिनि क्षमया तरंगै-
गानि सिंच मम शाम्यतु देहदाहः ॥ ३ ॥

हे मलयाचलके पवन ! आप मुझे अपनी इच्छानुसार खूब
ता लीजिये, हे पञ्चबाण ! (कामदेव) आप भी मेरे प्राणोंको
र लीजिये, मैं अब जीतेजी घर वापस नहीं जाऊँगी । हे यम-
ाजकी बहिन, यमुने ! आपभी मुझपर क्यों क्षमा करती हैं आप
पनी तरङ्गोंसे मेरे अंगोंको सींचे, जिससे मेरे शरीरका दाह
दा के लिये दूर हो जाय ॥ ३ ॥

सांद्रानन्दपुरन्दरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा-
दानन्दैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभिः संदर्शितेन्दीवरम् ॥
स्वच्छन्दं मकरन्दसुन्दर गलन्मन्दाकिनीमेदुरं
श्रीगोविन्दपदारविन्दमशुभस्कन्दाय वन्दामहे ॥

इति श्रीगीतगोविन्दे नागरनारायणो नाम सप्तमः सर्गः ॥

अत्यधिक आनन्दसे युक्त इन्द्रादि देवगण रत्न जड़े
से बड़े आदर के साथ जिन भगवान श्रीकृष्णके चरणोंको
करते हैं और अपनी इच्छानुसार जिन भगवान श्रीकृष्णके
कमलोंके परागसे गंगाजल सदा व्याप्त रहता है; अशुभ
लिये उनके पदारविन्दको प्रणाम है ।

इस प्रकार गीतगोविन्दकाव्यके नागर नारायण नाम
सप्तम सर्गकी टीका समाप्त हुई ।

—❀०❀—

अष्टमः सर्गः

अथ कथमपि यामिनीं विनीय
स्मरशरजर्जरितापि सा प्रभाते ।
अनुनयवचनं वदन्तमग्रे
प्रणतमपि प्रियमाह साभ्यसूयम् ॥ १ ॥

इसके बाद किसी तरह रात बिताकर कामबाणोंसे पीड़ित
। पर भी वह राधा, प्रातःकाल आकर विनयपूर्वक शान्त्वना
न से बोलने वाले और पैरों पड़नेवाले अपने प्रिय श्रीकृष्ण
ईर्ष्यायुक्त होकर बोली ॥ १ ॥

निजनितगुरुजागररागकषायितमलसनिमेषम् ।
तिनयनमनुरागमिवस्फुटमुदितरसाभिनिवेशम् ॥
हरि याहि माधव याहि केशव मा वद कैतववादम् ।
नुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम् ॥
ध्रु० ॥ १ ॥

रात्रिके जागरणसे उत्पन्न थकावटके कारण आपके नेत्र
ल-लाल हो रहे हैं और पलक आलस्य से भरे दिखाई देते हैं।

जिससे स्पष्ट प्रगट है कि किसी नायिकाके शृङ्गाररसका अ
इन नेत्रों में भरा हुआ है। अतः हे माधव ! आप उसी नाि
पास जाइये जो आप पर अनुरक्त है। हे कमलनयन ! आ
को अपनाइये जो आपके दुःखको दूर करती है, धूर्त्ततभरे
को मेरे सामने न कहिये ॥ १ ॥

कज्जलमलिनविलोचनचुम्बनविरचितनीलिमरूप
दशनवसनमरुणं तव कृष्ण तनोति तनोरनुरू
हरि० ॥

हे कृष्ण! काजलसे काले काले नेत्रोंके चुम्बनसे
लाल-ओष्ठ नीले पड़ गये हैं और आपकी देहके रंगमें मि
हैं ॥ २ ॥

वपुरनुहरति तव स्मरसङ्गरखरनखरक्षतरेखम्।
मरकतशकलकलितकलधौतलिपेरिव रतिजयले
हरि० ॥

हे कृष्ण! कामयुद्धमें तीखे-तीखे नाखूनोंके क्षतसे रे
आपका शरीर ऐसा प्रतीत होता है जैसे—पन्नेके टुकड़ोंपर सु
क्षरोंसे रतिजय लेख लिखा गया हो, अर्थात् उस नायि
प्रसन्नहो आपको खूब नोचा है जिससे आपके शरीरमें वि
पानेके प्रमाणकी भाँति ये नखक्षत दिखाई दे रहे हैं,
हे नाथ! आप उसीके पास जाइये ॥ ३ ॥

णकमलगलदललक्तकसिक्तमिदं तव हृदयमुदारम्।
यतीव बहिर्मदनद्रुमनवकिसलयपरिवारम्। हरि०।४

हे कृष्ण ! उस नायिकाके चरणकमलों से निकले महावरसे
ा हुआ यह आपका उदार हृदय ऐसा दिखाई देता है मानो,
नरूपी वृक्ष के पत्तोंका समूह बाहर आ गया हो। इसलिये
उसीके पास जाइये ॥ ४ ॥

नपदं भवदधरगतं मम जनयति चेतसि खेदम्।
यति कथमधुनापि मया सह तव वपुरेतदभेदम् ॥
हरि० ॥ ५ ॥

हे कृष्ण ! आपके ओठों पर परकीया अंगना से किये हुए
क्षतको जब मैं देखती हूँ तब मेरे चित्तमें अत्यन्त खेद होता
इतना होनेपर भी क्या आप हममें तथा तुममें अभेद है ?
कह सकते हैं ॥ ५ ॥

हरिव मलिनतरं तव कृष्ण मनोऽपि भविष्यति नूनम्।
मथ वञ्चयसे जनमनुगतमसमशरज्वरदूनम् ।हरि०।६

हे कृष्ण ! मुझे ऐसा मालूम होता है कि जैसे आपका
र काला है वैसे ही आपका अन्तःकरण भी काला है। नहीं
आपका ही अनुगमन करनेवाले काम पीड़ित मुझ सरीखे
को क्यों छलते ? ॥ ६ ॥

भ्रमति भवानबलाकवलाय वनेषु किमत्र विचित्र
प्रथयति पूत नकैव वधूवधनिर्दयबालचरित्रम् ।हरि

✓ हे कृष्ण ! आप इस जंगलमें अबलाओं को सतानेके
भ्रमण करते हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं, क्योंकि निर्द
पूर्वक स्त्रियोंको मारने वाला आपका बालचरित पूतना ने
प्रकट कर दिया है ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितरतिवञ्चितखण्डितयुवतिविलापम्
शृणुत सुधामधुरं विबुधा विबुधालयतोऽपि दुरा

हरि० ॥

हे पंडित जनो ! जयदेवकवि विरचित सम्भोग भङ्ग
वञ्चित खंडिता नायिकाका विरह विलाप सुनिये, अमृतके
मधुर यह कृष्ण-चरित स्वर्गमें भी दुर्लभ है ॥ ८ ॥

तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव
प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणच्छायहृदयम् ।
ममाद्य प्रख्यातप्रणयभरभङ्गेन कितव !
त्वदालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति।

हे धूर्त ! अन्य गोपवधू के पैरोंमें लगे हुए महावरसे
अन्तःकरण बाहरी अनुरागसे ही रञ्जित ज्ञात होता है।

पके इस कृत्रिम प्रेमको जानकर जगत्प्रसिद्ध आपके विपुल
ुरागके नाशके भयसे आपका दर्शन, शोकसे मुझे लज्जित
ता है ॥ १ ॥

तर्नीलनिचोलमच्युत उरः सञ्ज्ञीतपीतांशुकं
भायाश्चकितं विलोक्य हसति स्वैरं सखीमण्डले ।
डाचञ्चलमञ्चलं नयनयोराधाय राधानने
रस्मेरमुखोऽयमस्तु जगदानन्दाय नन्दात्मजः ॥२॥

इति श्रीगीतगोविन्दे खण्डितावर्णने विलक्षलक्ष्मीपति—
नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

प्रातःकाल नीले रंगके वस्त्रोंको धारणकिये कृष्णको और
ताम्बर से अच्छादित राधाके वक्षःस्थलको देखकर सखियोंमें
श्चर्यकी सीमा न रही, तत्काल, लज्जायुक्त मन्द हास्यसे पूर्ण
चल अपांगो द्वारा राधाके मुखकमलकी ओर निहारने वाले नन्द
पुत्र संसार के आनन्दके लिए हों ॥ २ ॥

इस प्रकार गीतगोविन्दकाव्यकी भावपूर्ण
अष्टम सर्गकी टीका समाप्त हुई ।

—❀○❀—

नवमः सर्गः

अथ तां मन्मथखिन्नां रतिरसभिन्नां विषादसम्पन्न
अनुचिन्तितहरिचरितां कलहान्तरितामुवाचरह

इसके बाद कामज्वरसे पीड़ित, रतिसुखरहित, अत्यन्त दु
श्री कृष्णके चरितको निरंतर स्मरणकरनेवाली, कलहान्तरि
(पतिका तिरस्कार कर पश्चात्ताप करनेवाली)
एकान्तमें एक सखी कहने लगी ॥ १ ॥

गुर्जररागे रूपकताले अष्टपदी ॥ १८ ॥

हरिरभिसरति वहति मधुपवने ।
किमपरमधिकसुखं सखि भवने ।
माधवे मा कुरु मानिनि मानमये । ध्रु० ॥ १

हे मानकरनेवाली राधिके ! अब आप कृष्णके विषयमें
मत करिये, हे प्रिये ! यह वसन्तकी हवा बहने पर प्रिय
स्वयं संकेतस्थलमें आ गये हैं हे सखि ! क्या घर पर इससे
अधिक आनन्द मिलेगा ? ॥ १ ॥

लफलादपि गुरुमतिसरसम् ।
 विफलीकुरुषे कुचकलशम् ॥ माध० ॥ २ ॥
 हे प्रिये ! ताल फलसे भी अधिक बड़े और अति सरस तथा
शके समान इन स्तनोंको क्यों विफल कर रही हो ? ॥ २ ॥
ति न कथितमिदमनुपदमचिरम् ।
 परिहर हरिमतिशयरुचिरम् ॥ माध० ॥ ३ ॥
यि मानिनि ! मैंने कई बार नहीं कहा था क्या ? कि "परम
दर कृष्णका परित्याग न करिये" ॥ ३ ॥
मिति विषीदसि रोदिषि विकला ।
हसति युवतिसभा तव सकला ॥ माध० ॥ ४ ॥
 हे प्रिये ! अब आप क्यों पश्चात्ताप करती हो ! और क्यों
कुल होकर रोती हो, देखो यह सारी युवतियाँ आपका मजाक
ती हैं ॥ ४ ॥

दुनलिनीदलशीतलशयने ।
रिमवलोकय सफलय नयने ॥ माध० ॥ ५ ॥
 मानिनि ! कोमल नालिनी के पत्तोंसे बनी शीतल शय्यापर
को देखकर अपनी आँखोंको कृतार्थ करिये ॥ ५ ॥

जनयसि मनसि किमिति गुरुखेदम् ।
शृणु मम वचनमनीहितभेदम् ॥ माधव० ॥ ६ ॥

हे प्रिये ! आप अपने मनमें क्यों इस तरह अधिक खेद करती हैं, मेरी बातको मानिये, मैं आपके हितकीही बात कहूँगी ॥

हरिरुपयातु वदतु बहु मधुरम् ।
किमिति करोषि हृदयमतिविधुरम् ॥ माध० ॥ ७ ॥

हे मानिनि ! ऐसा उपाय करिये कि भगवान् श्रीकृष्ण आपके समीप आवें और आप इस तरहसे मीठी-मीठी उनसे बातें करें, अपने मनको क्यों क्लेशित कर रही हो ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमतिललितम् ।
सुखयतु रसिकजनं हरिचरितम् ॥ माध० ॥ ८ ॥

जयदेव कविकृत अति सुन्दर श्रीकृष्ण चरित रसिकजनोंको सुखकारी हो ॥ ८ ॥

स्निग्धे यत्परुषासि यत्प्रणमति स्तब्धासि यद्रागिणि
द्वेषस्थासि यदुन्मुखे विमुखतां यातासि तस्मिन्प्रिये ।
तद्युक्तं विपरीतकारिणि तव श्रीखण्डचर्चाविषं
शीतांशुस्तपनो हिमं हुतवहःक्रीडामुदो यातनाः ॥१

हे राधे ! आप श्रीकृष्ण के प्रेम करने पर उनसे रूखा व्यवहार रती हो, उनके नम्र होनेपर कठोर हो जाती हो उनके अनुरक्त नेपर विरक्त होती हो, उनके सामने आनेपर मुँहफेर ड़ी होती हो, इसीलिये आपको श्रीखण्ड चन्दन की चर्चा विष तरह, चन्द्र सूर्य की तरह, हिम अग्नि की तरह, क्रीड़ा पीड़ा तरह विपरीत लग रही है ॥ १ ॥

न्तर्मोहनमौलिघूर्णनचलन्मन्दार विस्रसनः
ध्याकर्षणदृष्टिहर्षणमहामन्त्रःकुरङ्गीदृशाम् ।
यद्दानवदूयमानदिविषद्दुर्वारदुःखापदां
शः कंसरिपोर्व्यपोहयतु वः श्रेयांसि वंशीरवः ॥२॥

इति श्रीगीतगोविन्दे कलहान्तरितावर्णने मुग्धमुकुन्दो
नाम नवमः सर्ग ॥ ९ ॥

तरुण गोपियों को मोहित करने में जिनके मुकुट में लगे हुए रिजात फूल ढीले पड़ गये हैं, तथा जो अचेत पदार्थों तक को कर्षित करते हैं, देखनेवालों को हर्षान्वित करते हैं, जो महामन्त्र प हैं, उद्दण्ड दैत्यों से पीड़ित देवताओं के दुःखों का जो न करते हैं, उन भगवान् कृष्णके वंशीकी ध्वनि आप लोगों कल्याण करे ।

प्रकारसे गीतगोविन्द काव्यके मुग्धमुकुन्द नामक नवम सर्गकी हिन्दी टीका समाप्त हुई ।

दशमः सर्गः

—:०:—

अत्रान्तरे मसृणरोषवशामसीम-
निःश्वासनिःसहमुखीं समुपेत्य राधाम्।
सव्रीडमीक्षितसखीवदनां दिनान्ते
सानन्दगद्गदमिदं हरिरित्युवाच ॥ १॥

इसी समय सायङ्काल के समय अत्यन्त कुपित श्वासोच्छ्वा[illegible] से म्लान मुखवाली, लज्जापूर्वक सखी के मुखको देखनेवा[illegible] सुन्दरमुखी राधाके समीप आकर कृष्णने आनन्द से गद्[illegible] होकर कहा ॥ १ ॥

देशवराडिरागे अडवताले अष्टपदी ॥ १६ ॥

वदसि यदि किञ्चिदपि दन्तरुचिकौमुदी
हरति दरतिमिरमतिघोरम्।
स्फुरदधरसीधवे तव वदनचन्द्रमा
रोचयति लोचनचकोरम् ॥

प्रिये चारुशीले प्रिये चारुशीले
मुञ्च मयि मानमनिदानम् ।
सपदि मदनानलो दहति मम मानसं
देहि मुखकमलमधुपानम् ॥ ध्रु० ॥ १ ॥

हे प्रिये ! आप यदि कुछ भी कहती हो तो आपकी दन्त-[कान्ति] मेरे भयरूपी घने अन्धकारको शमन कर देती है, और [आ]पका मुखरूपी चन्द्रमा आपके फड़कते हुए अधरों की सुधा [पी]नेके लिए मेरे नयनरूपी चकोरों को ललचाता है। हे प्रिये [चा]रुशीले ! मेरे ऊपर कृपा करके अकारण मानका परित्याग [की]जिये और अपने मुखरूपी कमलका मधुपान कराइये क्योंकि [का]माग्नि मेरे चित्तको जला रहा है ॥ १ ॥

[स]त्यमेवासि यदि सुदति ! मयि कोपिनी
देहि खरनखशरघातम् ॥
[घ]टय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम् । प्रिये चारु० ॥२॥

हे सुन्दरदाँतों वाली ! यदि यथार्थमें आप मेरे ऊपर कुपित [हैं] तो आप अपने नोकीले नाखूनरूपी बाणों से मेरे ऊपर प्रहार [करें], दोनों भुजाओं से मुझे बाँध लें और दाँतों से काट लें ॥२॥

त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं
त्वमसि मम भवजलधिरत्नम् ।
भवतु भवतीह मयि सततमनुरोधिनी
तत्र मम हृदयमतियत्नम् ॥ प्रिये चारु० ॥३

हे प्रिये ! आप मेरे लिए अलङ्कार हैं, आप मेरा प्राण आप मेरे लिए संसारमें रत्नके सदृश हैं, इसलिए सदा मेरे आप कृपा करती रहें, आप मेरे ऊपर कृपालु हो इसके लिये मे हृदय सदा प्रयत्न करता रहता है ॥ ३॥

नीलनलिनाभमपि तन्वि ! तव लोचनं
धारयति कोकनदरूपम् ।
कुसुमशरबाणभावेन यदि रञ्जयसि
कृष्णमिदमेतदनुरूपम् ॥ प्रिये० चारु० ॥ ४

हे तन्वि ! आपके नेत्र नील कमलसे सदृश होनेपर भी को कारण लाल कमलके सदृश हो रहे हैं, यदि अपने नेत्रको देवके बाण समझकर मुझ कृष्णको रंग रही हो तो यह तुम्ह रंगना ठीक ही है ॥ ४ ॥

स्फुरतु कुचकुम्भयोरुपरिमणि मञ्जरी
रञ्जयतु तव हृदयेशम् ।

रसतु रशनापि तव घनजघनमण्डले
घोषयतु मन्मथनिदेशम् ॥ प्रिये चारु० ॥ ५ ॥

हे सुन्दरि ! आपके कलशरूपी स्तनोंपर रत्नोंका हार शोभायमान हो, और वह हार आपके वक्षःस्थलको अनुरक्त करे। हे प्रिये ! आपके सघन जघनमण्डलके ऊपर करधनीकी ध्वनि गूँजे, और वह करधनीकी ध्वनि कामदेवके आज्ञाको घोषणा करे ॥ ५ ॥

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं
जनितरतिरङ्गपरभागम् ।
भण मसृणवाणि करवाणिचरणद्वयं
सरसलसदलक्तकरागम् ॥ प्रिये चारु० ॥ ६ ॥

हे मधुरभाषिणि ! यदि आप कहें तो, स्थल कमलकी भी शोभा को मात करनेवाले, मेरे चित्तको आनन्दित करनेवाले, रतिरागमें असीम आनन्द देनेवाले, आपके इन दोनों पैरोंको, सरस और शोभायमान महावर से लाल कर दूं ॥ ६ ॥

स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं
देहि पदपल्लवमुदारम् ।
ज्वलति मयि दारुणो मदनकदनानलो
हरतु तदुपाहितविकारम् ।

हे प्राणप्रिये ! कामदेवरूपी विषका नाश करनेवाले, अं
कार स्वरूप नवीन पत्तों के समान कोमल अपने चरणों को मे
शिरपर रक्खें क्योंकि कामाग्नि की भयंकर ज्वाला मेरे हृदय
धधक रही है, इससे जरा शान्ति मिलेगी ।। ७ ।।

इति चटुलचाटुपटुचारुमुरवैरिणो
राधिकामधिवचनजातम् ।
जयति पद्मावतीरमणजयदेवकवि-
भारतीभणितमिति गीतम् ।। ८ ।।

इस प्रकार चञ्चल चतुरता और प्रेमरस से परिपूर्ण अत
सुन्दर पद्माके पति जयदेव कविकी वाणी द्वारा राधाके प्र
आनन्द कन्द श्रीकृष्णकी उक्तियाँ सबसे बढ़-चढ़कर हैं ।। ८ ।।

परिहर कृतातङ्के शङ्कां त्वया सततं घन—
स्तनजघनयाक्रान्ते स्वान्ते परानवकाशिनि ।
विशति वितनोरन्यो धन्यो न कोऽपि ममान्तरं
स्तनभरपरीरम्भारम्भे विधेहि विधेयताम् ।। १ ।।

हे कामसन्तप्तहृदये ! मैं दूसरी नायिकाके पास जाता हूँ
तरहकी शंकाओं को छोड़ दें क्योंकि कठोर स्तनों और सघ
जघनों वाली आपके मेरे हृदयमें व्याप्त हो जानेपर दूसरी नायि

के रहनेके लिये मेरे हृदयमें स्थान ही नहीं रहता वह एक काम देवही धन्य है जो मेरे हृदय में प्रवेश करता है, इसलिये हे प्रिये! सुदृढ़ आलिंन का पात्र मुझे बनाइए ॥ १ ॥

मुग्धे ! विधेहि मयि निर्दयदन्तदंशं
दोर्वल्लिबन्धनिबिडस्तनपीडनानि ।
चण्डि ! त्वमेव मुदमञ्चय पञ्चबाण-
चण्डालकाण्डदलनादसवः प्रयान्ति ॥ २ ॥

हे ग्धे ! आप मुझे निर्दयता पूर्वक दाँतोंसे काटिए, अपनी भुजारूप लताओं से मुझे बाँधिये और अत्यन्त कठोर अपने स्तनोंसे दबा दीजिये, मेरे जैसे अपराधी के लिए यही दंड है । हे चंडि ! आप हो मुझे प्रसन्न करें क्योंकि चंडाल कामदेवके बाणोंसे मेरे प्राण जा रहे हैं ॥ २ ॥

शशिमुखि ! तव भाति भङ्गुरभ्रू-
र्युवजनमोहकरालकालसर्पी ।
तदुदितभयभञ्जनाय यूनां
त्वदधरसीधुसुधैव सिद्धमन्त्रः ॥ ३ ॥

हे चन्द्रमुखि ! आपकी तिरछी भौंहें तरुण पुरुषोंको मोहनेमें अति भयङ्कर काले सर्पकी तरह हैं इन भौंहोंसे उत्पन्न मूर्छा वाले

युवकों के भयके नाशके लिए आपकी अधररूपी सुधा ही सिद्धमंत्र अर्थात् रामनाण (औषधि) है ॥ ३ ॥

व्यथयति वृथा मौनं तन्वि ! प्रपञ्चय पञ्चमं
तरुणि ! मधुरालापैस्तापं विनोदय दृष्टिभिः ।
सुमुखि ! विमुखीभावं तावद्विमुञ्च न वञ्चय
स्वयमतिशयस्निग्धो मुग्धे ! प्रियोऽहमुपस्थितः ॥४॥

हे कृशांगि ! आपका मौनभाव मुझे वृथा कष्ट दे रहा है, हे तरुणि ! मीठी-मीठी बातों से पंचम स्वरमें मुझसे बातें कर मेरे हार्दिक संताप को दूर करिये, हे चारुवक्त्रे ! मेरी ओर जरा प्रेमभरी एक नजर देखिये, अब मुझे मत ठगिए, हे मुग्धे ! मैं आपका अनन्य प्रेमी स्वय आ गया हूँ ॥ ४ ॥

बन्धूकद्युतिबान्धवोऽयमधरःस्निग्धो मधूकच्छवि-
र्गण्डश्चण्डि ! चकास्ति नीलनलिनश्रीमोचनं लोचनम् ।
नासाभ्येति तिलप्रसूनपदवीं कुन्दाभदन्ति प्रिये !
प्रायस्त्वन्मुखसेवया विजयते विश्वं स पुष्पायुधः ॥५॥

हे चंडि ! दुपहरियाके फूलके समान लाल-लाल यह आपके अधर, महुएके फूलके समान सुन्दर ये आपके चिकने गाल, नील कमला की कान्तिको चुरानेवाली आपकी ये आँखें तिलके फूल

समान आपकी यह नासिका विलक्षण शोभा दे रही है। हे कुन्द सदृश दाँतों वाली ! इस तरह कामदेव आपके ही मुखके आश्रय से विश्वविजय करता है १ बन्धूक, २ मधूक, ३ नीलोत्पल ४ तिलपुष्प और ५ कुन्दरूप पाँचो पुष्प-बाण आपहीके मुखपर विराजमान हैं ॥ ५ ॥

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुमत्यान्वितं
गतिर्जनमनोरमा विधुतरम्भमूरुद्वयम् ।
रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुधयौवनं वहसि तन्वि ! पृथ्वीगता ॥ ६ ॥

हे सुन्दरि ! आपकी आँखें मदसे भरी हुई हैं, आपका मुख चन्द्रमाके समान है, आपका गमन देखने वालों के मनको हरण करने वाला, आपकी आँघे केलेके खम्भोंको भी जीत चुकी हैं, आपकी रतिक्रीडा कलापूर्ण है, आपकी भौंहें सुन्दर और विचित्र रेखाकी तरह हैं, हे तन्वि ! आश्चर्य है कि पृथिवीपर रहने पर भी आपमें सुराङ्गनाओंके गुण विद्यमान हैं ॥ ६ ॥

प्रीतिं वस्तनुतां हरिः कुवलयापीडेन सार्धं रणे
राधापीनपयोधरस्मरणकृत्कुम्भेन सम्भेदवान् ।
यत्र बिभ्यति मीलति क्षणमपि क्षिप्रं तदालोकनाद्
व्यामोहेन जितं जितं जितमिति व्यालोलकोलाहलः ॥ ७

इति श्रीगीतगोविन्दे मानिनीवर्णने चतुश्चतुर्भुजो नाम
दशमः सर्गः ॥ १ ॥

कंसके हाथी कुवलयापीडके साथ युद्ध करते समय उसके कुम्भको भेदन करने वाले, राधाके उन्नत स्तनोंका स्मरण करने वाले, भयदायी हाथीकी मृत्यु देखकर कंसको "जीतलिया जीत लिया" ऐसे कोलाहलोंको मचानेवाले, कार्य करनेवाले, श्रीकृष्ण भक्तों की प्रीतिको बढ़ावें ॥ ७ ॥

इस प्रकारसे गीतगोविन्द काव्यके चतुर्भुजनामक दशम सर्ग की हिन्दी टीका समाप्त हुई ।

— ❀ : ❀ —

एकादशः सर्गः
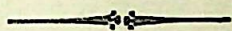
सुचिरमनुनयेन प्रीणयित्वा मृगाक्षीं
गतवति कृतवेषे केशवे कुञ्जशय्याम् ।
रचितरुचिरभूषां दृष्टिमोषे प्रदोषे
स्फुरति निरवसादां कापि राधां जगाद ॥ १ ॥

बहुत देरतक अनुनय विनय करके राधाको प्रसन्न करलेने पर, सन्ध्या के समय श्रीकृष्णके कुञ्जमें शयन करने के लिये चले जाने पर और दृष्टि को चुरानेवाले प्रदोष समयके आजाने पर एक सखीने अच्छे शृङ्गारसे सजी अतिप्रमुदित हृदयवाली राधासे कहा ॥ १ ॥

वसन्तरागे रूपकताले अष्टपदी ॥ २० ॥

विरचितचाटुवचनरचनेन चरणरचितप्रणिपातम् ।
सम्प्रति मञ्जुलवञ्जुलसीमनि केलिशयनमनुयातम् ।
मुग्धे मधुमथनमनुगतमनुसर राधिके ॥ ध्रु० ॥ १ ॥

हे मुग्धे ! मधुर वचनोंको कह कर आपके पैरों पड़नेवा इस समय आपके अनुकूल मनोहर श्रीकृष्ण वेतके लतागृ क्रीडाशयन पर पधारे हैं, इसलिये हे राधे ! उन मधु श्रीकृष्णके समीप शीघ्र चलिये ॥ १ ॥

घनजघनस्तनभारभरे दरमन्थरचरणविहारम् ।
मुखरितमणिमञ्जीरमुपेहि विधेहि मरालविकारम्॥
मुग्धे० ॥ २

हे सघन जाँघो तथा उभड़े हुए और कड़े-कड़े स्तनोंव प्यारी ! धीरे - धीरे अपने शिथिल पैरोंको पृथिवी पर र हुई तथा मणि नूपुरोंको बजाती हुई हंसकी चालसे श्रीकृ समी चलिये ॥ २ ॥

शृणु रमणीयतरं तरुणीजनमोहनमधुरिपुराव
कुसुमशरासनशासनवन्दिनि पिकनिकरे भज भाव
मुग्धे० ॥ ३

हे प्रिये ! युवतिजनोंको मोहित करनेवाले श्रीकृ बाँसुरीकी ध्वनि सुनिये तथा कामदेवकी आज्ञाके प्रचारके बन्दीका काम करनेवाली कोकिलाओंके भावको भजिये ॥

अनिलतरलकुवलयनिकरेण करेण लतानिकुरम्बम् ।
प्रेरणमिव करभोरु ! करोति गतिं प्रति मुञ्च विलम्बम् ॥
मुग्धे० ॥ ४ ॥

हे करभोरु ! देखिये, इन लताओंका झुण्ड पवन द्वारा प्रेरित होकर चञ्चल पल्लवरूपी हाथोंसे आपको गमनकी प्रेरणा कर रहा है, इसलिये हे प्रिये ! विलम्ब न करें, जल्द चलिये ॥ ४ ॥

स्फुरितमनङ्गतरङ्गवशादिव सूचितहरिपरिरम्भम् ।
पृच्छ मनोहरहारविमलजलधारममुं कुचकुम्भम् ॥
मुग्धे० ॥ ५ ॥

हे सखि ! यदि मेरे इस बातका विश्वास नहीं है, तो कामदेवके तरंगके वशीभूत होकर चलायमान और श्रीकृष्णके आलिंगनको पहलेहीसे सूचित करनेवाले एवं मनोहर हाररूपी जलधारा वाले कुम्भके समान अपने इन दोनों कुचों से पूछ लीजिये कि ये क्यों फुरफुरा रहे हैं ॥ ५ ॥

अधिगतमखिलसखीभिरिदं तव वपुरपि रतिरणसज्जम् ।
चण्डि ! रणितरशनारवडिण्डिममभिसर सरसमलज्जम् ॥
मुग्धे० ॥६॥

हे मानिनि! सभी सखियोंको यह बात अच्छी तरह मालूम हो चुकी है कि आपका शरीर रतिरूपी संग्रामके लिये प्रस्तुत है, ऐसी अवस्थामें हे चन्डि! लज्जाको त्यागकर प्रेमसे करधनी के शब्दको करती हुई आप संकेत स्थलकी ओर चलें ॥ ६ ॥

स्मरशरसुभगनखेन सखीमवलम्ब्य करेण सलीलम्।
चलवलयक्वणितैरवबोधय हरिमपि निजगतिशीलम्।
मुग्धे ॥ ७ ॥

हे सुभगे। कामदेवके बाणके समान सुन्दर नखवाले हाथ से लीलापूर्वक बड़े हाव-भावके साथ सखीका हाथ पकड़कर चलिये और कामदेव के वशीभूत श्रीकृष्ण को हाथ के कड़े घुंघरुओं को बजाकर अपने आने की सूचना दीजिये ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमधरीकृतहारमुदासितवामम्।
हरिविनिहितमनसामधितिष्ठतु कण्ठतटीमविरामम्।
मुग्धे ॥ ८ ॥

जयदेव कवि द्वारा कहा गया यह गीत रत्नों के हार को तिरस्कृत करने वाला, युवतियों को उदासीन बनानेवाला भगवद्भक्तों के कंठमें सदा निवास करे ॥ ८ ॥

सा मां द्रक्ष्यति वक्ष्यति स्मरकथां प्रत्यङ्गमालिङ्गनैः
प्रीतिं यास्यति रंस्यते सखि समागत्येति चिन्ताकुलः

स त्वां पश्यति वेपते पुलकयत्यानन्दति खिद्यति
प्रत्युद्गच्छति मूर्छति स्थिरतमःपुञ्जे निकुञ्जे प्रियः ॥२॥

हे राधिके ! अत्यन्त अन्धकारमय लताकुञ्ज में विराजमान आपके प्रिय कृष्ण चिन्ताकुल होकर सोचते हैं-वे राधा मुझे देखेंगी मेरे साथ मीठी-मीठी प्रेमपूर्ण बातें करेंगी, हर एक अंगका आलिङ्गन कर प्रसन्न हो जायेंगी, तदनन्तर मेरे साथ रतिक्रीडा करेंगी, इसतरह अनेक प्रकारके मनोरथों के मनमें उत्पन्न होते हुए वे श्रीकृष्ण ध्यानमें आपको देखते हैं, देखकर काँप जाते हैं, पुलकित गति हो जाते हैं। स्वाप्निक समागमसुख का अनुभव करने लगते हैं, रतिक्रमसे पसीने-पसीने हो जाते हैं, तुम्हारी भावना से उठकर खड़े हो जानेपर तुमको सामने न पाकर मूर्छित हो जाते हैं ॥ २ ॥

अक्ष्णोर्निक्षिप कज्जलं श्रवणयोस्तापिच्छगुच्छावलीं
मूर्ध्नि श्यामसरोजदाम कुचयोः कस्तूरिकापत्रकम् ।
धूर्तानामभिसारसत्वरहृदां विष्वङ्निकुञ्जे सखि !
ध्वान्तं नीलनिचोलचारुसुदृशां प्रत्यङ्गमालिङ्गति ॥३॥

हे सखि राधे ! आँखोंमें काजल, कानोंमें मोरपंखके गुच्छे, सिरमें नील कमलोंकी माला और कुचोंपर कस्तूरीके रससे पत्र-रचना आदि द्वारा अपनेको सजाकर श्रीकृष्णके पास चलें। प्रायः अभिसार के लिये अत्यन्त आतुर धूर्तनायिकाओंके लिये संकेत

स्थानमें जानेके लिये उपर्युक्त आभूषण ही है, क्योंकि निकुञ्ज काले वस्त्र से सुन्दर नायिकाओं को फैला हुआ गाढ़ान्धकार उनके सर्वाङ्गोंका आलिंगन करता है ॥ ३ ॥

काश्मीरगौरवपुषामभिसारिकाणा-
मावद्धरेखमभितो मणिमञ्जरीभिः ।
एतत्तमालदलनीलतमं तमिस्रं
तत्प्रेमहेमनिकषोपलतां तनोति ॥ ४ ॥

हे प्रिये ! केसर की कान्ति के समान शरीरवाली अभिसारिकाओं के लिये मणिमञ्जरियोंसे चारों ओर रेखा किया हुआ, तमालपत्रोंके समान अत्यन्त नील, यह अन्धकार, प्रेमरूपीसुवर्णकी कसौटी है। जैसे सुनार सुवर्णकी परीक्षा कसौटीपर करता है, उसीतरह प्रेमी प्रेमिकाओंकी परीक्षा अन्धेरेमें करते हैं ॥ ४ ॥

हारावलीतरलकाञ्चनकाञ्चिदाम-
केयूरकङ्कणमणिद्युतिदीपितस्य ।
द्वारे निकुञ्जनिलयस्य हरिं निरीक्ष्य
व्रीडावतीमथ सखी निजगाद राधाम् ॥ ५ ॥

उसके अनन्तर मालाओं, चमकदार सुवर्णकी करधनी, बाजूबन्द और कङ्कण आदिमें लगे हुए मणियोंकी कान्तिसे जगमगाते हुए

लतागृहके द्वारपर श्रीकृष्णको देखकर लज्जावती राधासे एक सखी बोली ॥ ५ ॥

वराटिरागे अडवताले अष्टपदी ॥

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने
विलस रतिरभसहसितवदने
प्रविश राधे ! माधवसमीपमिह ॥ ध्रुव ॥ १ ॥

क्रीडाके उत्साहसे प्रसन्नमुखवाली हे राधिके ! अतिसुन्दर लताकुञ्ज रूप क्रीडागृहमें जाइये और माधवके समीप जाकर उनके साथ रमण करिये ॥ १ ॥

नवभवदशोकदलशयनसारे
विलस कुचकलशतरलहारे ॥ प्रविश० ॥ २ ॥

कलशके समान स्तनों पर चञ्चल मुक्ताहार धारण करने वाली हे राधे ! नवीन अशोकके पत्तोंसे रचित शय्यापर श्रीकृष्ण के साथ रमण करिये ॥ ३ ॥

कुसुमचयरचितशुचिवासगेहे ।
विलस कुसुमसुकुमारदेहे ॥ प्रविश० ॥ ३ ॥

फूलों के समान सुकुमार शरीर वाली हे राधे ! फूलों के समूह से निर्मित अतएव पवित्र इस शयनगृहमें जाइये और श्रीकृष्णके साथ आमोद कीजिये ॥ ३ ॥

चलमलयपवनसुरभिशीते ।
विलस रसवलितललितगीते ॥ प्रविश० ॥ ४ ॥

हे शृङ्गार रससे ओतप्रोत गीतगाने वाली राधे ! मलय पर्वत की वायु से सुगन्धित और शीतल इस प्रेममन्दिरमें जाकर श्रीकृष्णके साथ विहार करिये ॥ ४ ॥

विततबहुवल्लिनवपल्लवघने ।
विलस चिरमिलितपीनजघने ॥ प्रविश० ॥ ५ ॥

हे चिर कालसे मिली हुई और मोटी २ जाँघवाली राधे ! फैली हुई नाना भाँतिकी लताओं के कोमल पत्तों के घने कुञ्ज में जाकर अपने प्यारे कृष्ण की प्रेमिका बनिये ॥ ५ ॥

मधुमुदितमधुपकुलकलितरावे ।
विलस दशनरभसरसभावे ॥ प्रविश० ॥ ६ ॥

हे कामदेवके उद्वेग से उत्पन्न शृङ्गार रसमें अनुराग रखने वाली राधे ! पुष्परसके आस्वाद से आनन्दपूर्वक झंकार करनेवाले भौरोंके झुण्डोंवाले लताभवनमें जाकर प्रेमरस चखिये ॥ ६ ॥

मधुरतरपिकनिकरनिनदमुखरे ।
विलस दशनरुचिरशिखरे ॥ प्रविश० ॥ ७ ॥

हे दाँतोंकी चमक दमक से शोभायमान शिखर मणिवाली राधे ! अत्यन्त मधुर कोकिलाओंकी वाणी से शब्दायमान लतागृहमें प्रवेशकर श्रीकृष्णके साथ विहार करिये ॥ ७ ॥

विहितपद्मावतीसुखसमाजे ।
कुरु मुरारे ! मङ्गलशतानि ॥
भणितजयदेवकविराजराजे ॥ प्रविश० ॥ ८ ॥

हे कृष्णचन्द्र ! पद्मावती के सुखसमूह का निर्माण करने वाले कविराजों में जयदेव कविके लिये सैकड़ों प्रकार के मंगल का विधान करें ॥ ८ ॥

त्वां चित्तेन चिरं वहन्नयमतिश्रान्तो भृशं तापितः ।
कन्दर्पेण च पातुमिच्छति सुधासम्बाधबिम्बाधरम् ॥
अस्याङ्कं तदलङ्कुरु क्षणमिह भ्रूक्षेपलक्ष्मीलव-
क्रीते दास इवोपसेवितपदाम्भोजे कुतः सम्भ्रमः ॥९॥

हे राधिके ! आपको चिर कालतक चित्तमें धारण करने से अधिक थके हुए, कामदेवसे अत्यन्त सताये हुए श्रीकृष्ण, आपके सुधारस से परिपूर्ण कुन्दरू फलके सदृश लाल-लाल अधरों को पान करना चाहते हैं, इसलिए हे प्रिये ! इनकी गोदको क्षणमात्र के लिए शोभित कर दीजिये, क्योंकि ये कृष्ण, आपकी तिरछी भौंहों के इशारे पर खरीदे हुए दास के समान

आपके चरण कमलों की सेवा करनेवाले हैं। इसलिए श्रीकृष्ण के समीप जानेमें हिचकिचाहट कैसी ? ॥ १ ॥

सा ससाध्वससानदं गोविन्दे लोललोचना ।
सिञ्जाना मञ्जुमञ्जीरं प्रविवेश निवेशनम् ॥ ७ ॥

इसके बाद चञ्चल नयनी वह राधा, लज्जा और आनन्द के साथ अपने पायजेबकी मनोहर ध्वनि करती हुई उस लताकुञ्ज में चली गयी ॥ ७ ॥

वराडीरागे रूपकताले अष्टपदी ॥ २ ॥

राधावदनविलोकनविकसित विविधविकारविभङ्गम् ।
जलनिधिमिव विधुमण्डलदर्शनतरलिततुङ्गतरङ्गम् ॥
हरिमेकरसं चिरमभिलषितविलासम् ।
सा ददर्श गुरुहर्षवशंवदवदनमनंगनिवासम् ॥ ध्रु० ॥ १ ॥

राधाने, चन्द्रमण्डलको देखकर चञ्चल और ऊँचे तरङ्गवाले समुद्रके समान, राधाके मुखरूपी चन्द्रके दर्शनसे आनन्दित, अनेक प्रकारके शृङ्गाररस के भावों से पूर्ण, समभाववाले, चिरकालसे अपनी राधाके साथ विहार करनेकी इच्छा रखने वाले, हर्षसे आह्लादित मुखवाले और कामदेवके वासस्थानरूप कृष्ण को देखा ॥ १ ॥

हारममलतरतारमुरसि दधतं परिरभ्य विदूरम् ।
स्फुटतरफेनकदम्बकरम्बितमिव यमुनाजलपूरम् ॥
हरि० ॥ २ ॥

अत्यन्त सफेद फेनके समूहसे मिले हुए यमुना जलके प्रवाह के समान, जानुपर्यन्त लटकते हुए अति शुभ्र मुक्ताहारको वक्षस्थल पर धारण किए हुए श्रीकृष्णको राधाने देखा ॥ २॥

श्यामलमृदुलकलेवरमण्डलमधिगतगौरदुकूलम् ।
नीलनलिनमिव पीतपरागपटलभरवलयितमूलम् ॥
हरि० ॥ ३ ॥

पीले रंग वाले परागसे व्याप्त नीलकमलके समान कोमल शरीर पर पीताम्बर धारण किए कृष्णको राधा ने देखा ॥ ३ ॥

तरलदृगञ्चलचलनमनोहरवदनजनितरतिरागम् ।
स्फुटकमलोदरखेलितखञ्जनयुगमिव शरदि तडागम् ॥
हरि० ॥ ४ ॥

शरद ऋतमें खिले हुए कमलके मध्यमें क्रीडा करनेवाले दो खञ्जरीट पक्षियों से युक्त तालाबके समान चञ्चल नयनों की कोरों से मनोहर मुख द्वारा युवतियों में रतिकी अभिलाषा उत्पन्न करनेवाले श्रीकृष्णको राधाने देखा ॥ ४ ॥

वदनकमलपरिशीलनमीलितमिहिरसकुण्डलशोभम्।
स्मितरुचिरुचिरसमुल्लसिताधरपल्लवकृतिरतिलोभम्॥

हरि० ॥ ५

मुखकमलको देखने के लिए परस्पर मिले हुए सूर्यके समा कुण्डलोंसे विभूषित, मुसकराहटकी छविसे मनोहर और प्रफु अधर पल्लवों द्वारा रमणियोंको रतिमें लोभ उत्पन्न करनेवा श्रीकृष्णको राधाने देखा ॥ ५ ॥

शशिकिरणच्छुरितोदरजलधरसुन्दरकुसुमसुकेशम्।
तिमिरोदितविधुमण्डलनिर्मलमलयजतिलकनिवेशम्॥

हरि० ॥ ६

चन्द्रकिरणोंसे मिले हुए मेघके मध्यभागके समान मनो पुष्पोंसे सुन्दर केशवाले, अन्धेरेमें उदित चन्द्रमण्डलके समा निर्मल और मलयागिरि चन्दनका तिलक किये हुये श्रीकृष्ण राधाने देखा ॥ ६ ॥

विपुलपुलकभरदन्तुरितं रतिकेलिकलाभिरधीरम्।
मणिगणकिरणसमूहसमुज्ज्वलभूषणसुभग शरीरम्॥

हरि० ॥ ७

अत्यन्त रोमाञ्चित देहवाले, रति क्रीडाकी कलाओंसे अधीर, मणियों के किरण समूह से प्रकाशमान, अलङ्कारों से सुन्दर शरीरवाले श्रीकृष्णको राधाने देखा ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितविभवे द्विगुणीकृतभूषणभारम् ।
प्रणमत हृदि विनिधाय हरिं सुचिरसुकृतोदयसारम् ॥
हरि० ॥ ८ ॥

हे भक्तो ! श्रीजयदेव कविके वर्णन किये हुए विभवकी अपेक्षा द्विगुणित अलङ्कारोंसे युक्त और चिरकाल से सञ्चित पुण्योदयके तत्त्वरूप श्रीकृष्णको चित्तमें धारण कर प्रणाम कीजिये ॥ ८ ॥

अतिक्रम्यापांगंश्रवणपथपर्यन्तगमन-
प्रयासेनैवाक्ष्णोस्तरलतरतारं पतितयाः ।
इदानीं राधायाः प्रियतमसमालोकसमये
पपात स्वेदाम्बुप्रसर इव हर्षाश्रुनिकरः ॥ ८ ॥

अतिप्रिय श्रीकृष्णके दर्शनके समय राधाके नेत्र, अपाङ्गोंका अतिक्रमण करके कानतक चले गये इसी श्रमसे मानों उनके नेत्रों से पसीना आनन्दाश्रुके रूपमें जलधाराके समान बहने लगा ॥८॥

भजन्त्यास्तल्पान्तं कृतकपटकण्डूतिपिहित-
स्मितं याते गेहाद्बहिरवहितालीपरिजने ।

प्रियास्यं पश्यन्त्याः स्मरशरवशाकूतसुभगं
सलज्जाया लज्जा व्यगमदिव दूरं मृगदृशः ॥ ९ ॥

कान आदिके खुजलानेके बहानेसे अपनी मुस्कराहटको रोकनेवाली चतुर सखीजनोंके लतागृहसे बाहर चले जानेपर पलंग पर बैठी हुई कामदेवके बाणों के वशीभूत अतएव सुन्दर अपने प्रिय श्रीकृष्णचन्द्रके मुखको देखने वाली मृगनयनी राधाकी लज्जा स्वयं लज्जित होकर दूर चली गयी ॥ ९ ॥

जयश्रीविन्यस्तैर्महित इव मन्दारकुसुमैः
स्वयं सिन्दूरेण द्विपरणमुदा मुद्रित इव ।
भुजापीडक्रीडाहतकुवलयापीडकरिणः
प्रकीर्णासृग्बिन्दुर्जयति भुजदण्डो मुरजितः ॥ १० ॥

प्रचण्ड भुजदंड की क्रीडासे कंसके कुवलयापीड नामक हाथीको मारनेवाले, श्रीकृष्णके रक्तके बिन्दुओंसे व्याप्त भुजदंड की मानों विजयलक्ष्मीने प्रसन्न होकर पारिजातके फूलों से स्वयं पूजाकी हो और कुवलयापीडके संग्राम से हर्षित होकर स्वयं श्रीकृष्ण सिन्दूरसे उसको रञ्जित किये हों ऐसा श्रीकृष्ण का भुजदंड आपका कल्याण करे ॥ १० ॥

इह प्रकारसे गीतगोविन्द काव्य के सानन्दगोविन्दनामक एकादशसर्गकी हिन्दी टीका समाप्त हुई ।

द्वादशः सर्गः

गतवति सखिवृन्देऽमन्दत्रपाभरनिर्भर

स्मरशरवशाकूतस्फीतस्मितस्नपिताधराम् ।

सरसमनसं दृष्ट्वा राधां मुहुर्नवपल्लव-

प्रसवशयने निक्षिप्ताक्षीमुवाच हरिः प्रियाम् ॥ १ ॥

सखियों के लताकुंजके बाहर चले जानेपर अत्यन्त लज्जाके कारण और कामदेव के वशीभूत होनेसे मुस्कुराहटसे युक्त अधरोष्ठ वाली तथा रतिक्रीडाके लिए सानुराग और नव पल्लव एवं कुसुमों द्वारारचित शय्याको बार-बार अवलोकन करनेवाली राधाको देखकर कृष्णने कहा ॥ १ ॥

विभासरागे एकतालीताले अष्टपदी ॥ २३ ॥

किसलयशयनतलेकुरु कामिनिचरणनलिनविनिवेशम्

तव पदपल्लववैरिपराभवमिदमनुभवतु सुवेषम् ।

क्षणमधुना नारायणमनुगतमनुसर मां राधिके !

॥ ध्रु० ॥ १ ॥

हे कामिनि ! कोमल-कोमल पत्तों से बनी सेजके ऊपर अपने चरण कमलों को रखिये और आपके पदपल्लवके शत्रु इस शय्या के पल्लव क्षणमात्र आपके पदपल्लवों द्वारा प्राप्त पराभवका अनुभव करें, हे प्रिये ! मुहूर्तमात्रके लिए नारायणके अनुकूल हो जाइये ॥ १ ॥

करकमलेन करोमि चरणमहमागमितासि विदूरम्।
क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगतिशूरम्॥
क्षण० ॥ २ ॥

हे प्रिये ! आप बहुत दूरसे आयी हैं इसलिये मैं अपने हाथों से आपके चरणों को दबाता हूँ । कृपया, मेरे ही तरह इन नूपुरों का भी आदर कीजिये । इनको शय्यापर उतार दीजिये ॥ २ ॥

वदनसुधानिधिगलितममृतमिव रचय वचनमनुकूलम्।
विरहमिवापनयामि पयोधररोधकमुरसि दुकूलम्॥
क्षण० ॥ ३ ॥

हे राधे ! आप अपने मुखके समान स्थित चन्द्रसे निकले अमृत तुल्य अनुकूल वचन कहिए मैं विरह के हटाये जाने की तरह आपके कुचों पर के वस्त्रको हटाता हूँ ॥ ३ ॥

प्रियपरिरम्भणरभसवलितमिव पुलकितमन्यदुरापम्।
मदुरसि कुचकलशं विनिवेशय शोषय मनसिजतापम्।

क्षण० ॥ ४ ॥

हे राधे ! प्रियके आलिंगन के लिए सन्नद्ध तथा रोमांचित और अन्यों को दुर्लभ कलशके सदृश इन स्तनों को मेरे वक्षःस्थलपर रखकर मेरी काम पीड़ा हरिये ॥ ४ ॥

अधरसुधारसमुपनय भामिनि ! जीवन मृतमिव दासम्।
त्वयिविनिहितमनसं विरहानलदग्धवपुषमविलासम् ॥

क्षण० ॥ ५ ॥

हे भामिनि ! तुम्हारे में आसक्त, विलास-हित विरहरूप अग्निसे झुलसे शरीरवाले, मरे हुए की तरह इस सेवकको अपने अधररूपी अमृतका पानकराकर जीवित करो ॥ ५ ॥

शशिमुखिमुखरयमणिरशनागुणमनुगुणकण्ठनिनादम्
ममश्रुतियुगले पिकरवविकले शमय चिरादवसादम् ॥

क्षण० ॥ ६ ॥

हे चन्द्रानने ! अपने कंठके ध्वनिके समान करधनीके मणियों को बजाइये, तथा कोयलके ध्वनिसे व्यथित मेरे कानों के दुःखको शान्त करिये ॥ ६ ॥

मामतिविफलरुषा विकलीकृतमवलोकितुमधुनेदम् ।
मीलितलज्जितमिव नयनं तव विरम विसृज रतिखेदम् ॥
त्वण० ॥ ७ ॥

हे सुन्दरि ! सर्वथा व्यर्थ के क्रोध से उत्तेजित मुझे देखनेके लिये आपके ये नेत्र इस समय लज्जायुक्त हो बन्द हो रहे हैं, इसलिये विश्राम कीजिये, रति खेदको छोड़ दीजिये ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमिदमनुपदनिगदितमधुरिपुमोदम् ।
जनयतु रसिकजनेषु मनोरमरतिरसभावविनोदम् ॥
त्वण० ॥ ८ ॥

पद-पद में श्रीकृष्णके आनन्दका वर्णन करनेवाले जयदेव कवि द्वारा रचित यह गीत रसिक जनों में सुन्दर शृङ्गार रसके आनन्दको उत्पन्न करे ॥ ८ ॥

प्रत्यूहः पुलकांकुरेण निविडाश्लेषे निमेषेण च
क्रीडाकूतविलोकितेऽधरसुधापाने कथाकेलिभिः ।
आनन्दाधिगमेन मन्मथकलायुद्धोऽपि यस्मिन्नभू-
दुद्भूतः स तयोबभूव सुरतारम्भः प्रियं भावुकः ॥१॥

उन श्रीकृष्ण तथा उनकी परम प्यारी राधाकी रतिक्रीड़ा जब आरम्भ हुई, उस समय प्रगाढ़ आलिंगन करते हुए रोमाञ्च होना विघ्न मालूम होता था, क्रीड़ाके अभिप्रायसे देखनेके समय

पलक गिरनाभी विघ्नभूत लगता था, अधरामृत पान करते हु
केलिकथा भी कष्ट—दायिका प्रतीत होती थी, काम कलापू
समर में उत्पन्न आनन्द भी उस समय सुरतरूपी समर
विघ्नसा हो लगता था ॥ १ ॥

दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै-
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः ।
हस्तेनानमितः कचेऽधरमधुस्यन्देन सम्मोहितः
कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः॥

राधिकाके हाथोंसे बँधे, स्तनोंके भारसे दबे; नखों से क्षत
किये गये, दन्तक्षत किए अधरवाले, कटिसे ताड़ित केशोंको
हाथोंसे पकड़कर नमाये, अधरोंके मधुपानसे मोहित कृष्ण लोको-
त्तर आनन्दको प्राप्त हुए। इसी कारण से कामदेवकी गतिको
कुटिल कहा गया है ॥ २ ॥

माराङ्के रतिकेलिसङ्कुलरणारम्भे तया साहस-
प्रायं कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भि यत्सम्भ्रमात् ।
निष्पन्दा जघनस्थली शिथिलिता दोर्वल्लिरुत्कम्पितं
वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्ध्यति॥ ३

सुरत क्रीड़ारूपी संग्रामके आरम्भ हो जानेपर राधिकाने
साहससे पतिपर विजय प्राप्त करनेके लिए कुछ समयतक कृष्णके

वक्षस्थलपर सम्भ्रम पूर्वक विपरीत रति आरम्भ की, उस समय उनकी जाँघें स्तब्ध हो गयीं, बाहें शिथिल हो गयीं, छाती धड़कने लगी परमानन्दके समय आँखें ढँपने लगीं, ठीक ही है, स्त्रियोंमें पौरुष कहाँ से आ सकता है ॥ ३ ॥

तस्याःपाटलपाणिजाङ्कितमुरो निद्राकषाये दृशौ
निर्धूताऽधरशोणिमा विलुलितस्रस्तस्रजो मूर्द्धजाः ।
काञ्चीदामदरश्लथां चलमिति प्रातर्निखातैर्दृशो-
रेभिःकामशरैस्तदद्भुतमभूत्पत्युर्मनः कीलितम् ॥४॥

नखक्षत चिन्हित राधाके वक्षस्थल, रात्रिके जागरण से लाल लाल उनकी आँखें, चुम्बनसे नष्टलालिमा वाले अधरोष्ठ, बिखरे और शिथिल बन्धन वाले मालायुक्त केश, कमरकी करधनीके समीपके खुले हुए वस्त्र आदि प्रातःकाल देखकर श्रीकृष्ण का चित्त (पुनः) कामदेव के बाणों से बिद्ध होने लगा ॥ ४ ॥

त्वामप्राप्य मयि स्वयंवरपरां क्षीरोदतीरोदरे
शङ्के सुन्दरि ! कालकूटमपिबन्मूढो मृडानीपतिः ।
इत्थंपूर्वकथाभिरन्यमनसा विक्षिप्यवामाञ्चलं
राधायाःस्तनकोरकोपरिचलन्नेत्रे हरिःपातु वः ॥५॥

हे क्षीरसागरके तीरपर स्वयंवरके लिए आई हुई सुन्दरि ! आपको न पा करके ही मृडानीपति शंकर ने विष पी लिया था

ऐसा मेरा अनुमान है। इस प्रकारकी अपनी पूर्व कथाकी स्मृतिसे अन्यमनस्क राधिकाके कुचों परका वस्त्र हटाकर प्रसन्न होनेवाले श्रीकृष्ण जी आपकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

व्यालोलः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेदलोलौ कपोलौ
स्पष्टा दष्टाधरश्रीःकुचकलशरुचा हारिता हारयष्टिः ।
काञ्चीकाञ्चीद्गताशांस्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्यसद्यः
पश्यन्तीचात्मरूपंतदपिविलुलितं स्रग्धरेयंधुनोति ॥६॥

जिनका केशपाश बिखर गया है, अलकें चञ्चल हो गयी हैं, दोनों गाल पसीनेकी बूदोंसे गीले हो गये हैं, ओष्ठोंके ऊपर दन्तक्षत स्पष्ट विदित हो रहे हैं, कलश के समान स्तनोंकी शोभासे मुक्ताहार पराजित होगये हैं, करधनी खिसकी हुई एक ओर पड़ी है—अतः अपनी ऐसी अवस्थापर राधाने अपने हाथों से कुचों और जघनको ढाँक अपने रूप को देखती और साधारण फूलोंकी मालाको धारण करती हुई भी वह श्रीकृष्णको आनन्दकारिणी मालूम पड़ी ॥ ६ ॥

ईषन्मीलितदृष्टिमुग्धहसितं सीत्कारधारावशा-
दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौताधरम् ।
श्वासोत्कम्पिपयोधरोपरि परिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो
हर्षोत्कर्षविमुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ॥ ७ ॥

कामकेलिकी उत्कंठासे उत्पन्न शिथिल श्वासोच्छ्वासके कारण कुछ हिलते हुए कुचोंके आलिंगन से, हर्षके अतिरेकसे कुछ बन्द नेत्रवाले और सुन्दर हास्यसे युक्त तथा लगातार सीत्कारोंके वश अव्यक्त एवं व्याकुलता से उत्पन्न शब्दों से विकसित दाँतोंकी कान्तिसे प्रक्षालित अधरवाले मुखका पान (चुम्बन) विरले ! भाग्यवान् करते हैं ॥ ७ ॥

अथ सा निर्गतबाधा राधा स्वाधीनभर्तृका ।
निजगाद रतिक्लान्तं कान्तं मण्डनवाञ्छया ॥ ८ ॥

इति सहसा सुप्रीतं सुरतान्ते सा नितान्तखिन्नाङ्गी
राधा जगाद सादरमिदमानन्देन गोविन्दम् ॥ ९ ॥

उसके बाद शान्त काम की बाधा वाली, रतिके अन्तमें नितान्त खिन्न अङ्गवाली स्वाधीन भर्तृका वह राधा अपने शृङ्गार करनेके लिए रति श्रम शान्त प्रिय कृष्णसे बोली ; सम्मानिनि रतिश्रमसे थकी वह राधा आनन्द और आदर पूर्वक अपने प्रिय श्रीकृष्णसे बोली ॥ ८९ ॥

रामकरीरागे रूपकताले अष्टपदी

कुरु यदुनन्दन चन्दनशिशिरतरेण करेण पयोधरे
मृगमदपत्रकमत्र मनोभवमङ्गलकलशसहोदरं ॥
निजगाद सा यदुनन्दने क्रीडति हृदयानन्दने ॥
ध्रु० ॥

हृदयको प्रफुल्लित करनेवाले श्रीकृष्णके साथ क्रीडा करती हुई राधाने कहा—"हे श्रीकृष्णचन्द्र ! चन्दनके समान अति शीतल अपने हाथोंसे कामदेवके मंगल कलश की तरह मेरे स्तनों पर कस्तूरीसे पत्र रचना कीजिये ॥ १ ॥

अलिकुलगञ्जनसञ्जनकं रतिनायकसायकमोचने ।
त्वदधरचुम्बनलम्बितकज्जलमुज्ज्वलय प्रिय लोचने ॥
निज० ॥ २ ॥

हे प्रिय पीताम्बरधारिन् ! कामदेवके बाणोंको छोड़नेवाले, मेरे नेत्रोंमें भ्रमरोंके समूहके समान, आपके अधरोंके चुम्बनसे मि… हुए मेरी आँखों के कज्जलको उज्ज्वल करिये ॥ २ ॥

नयनकुरंगतरंगविलास निरोधकरे श्रुतिमण्डले ।
मनसिजपाशविलासधरे शुभवंशे निवेशय कुंडले ॥
निज० ॥ ३ ॥

हे प्रियतम ! नेत्ररूपी हरिणीके विलासको रोकनेवाले मेरे कानोंमें कामदेवके पाश के समान कुण्डल पहनाइये ॥ ३ ॥

भ्रमरचयं रचयन्तमुपरि रुचिरं सुचिरं मम सम्मुखे ।
जितकमले विमले परिकर्मय नर्मजनं कमलकं मुखे ॥
निज० ॥ ४ ॥

हे मनोहरवेषधारिन् श्रीकृष्ण ! जिसके ऊपर भ्रमर उड़ रहे हैं ऐसे मनोहर तथा स्वच्छ कमलों को जीतनेवाले, आनन्दको देनेवाले मेरे मुखपर गिरनेवाले सुन्दर अलकावलीको आप गूँथिये ॥ ४ ॥

मृगमदरसवलितं ललितं कुरु तिलकमलिकरजनीकरे।
विहितकलंककलं कमलानन विश्रमितश्रमसीकरे॥
निज० ॥ ५॥

हे कमलके समान मुखवाले श्रीकृष्ण ! रतिके श्रमसे उत्पन्न स्वेदबिन्दु से युक्त अर्धचन्द्र के समान मेरे भालपर कलंकरेखाके समान कस्तूरीसे सुन्दर तिलक लगाइये ॥ ५ ॥

मम रुचिरे चिकुरे कुरु मानद मनसिजध्वजचामरे।
रतिगलिते ललितेकुसुमानिशिखण्डिशिखण्डकडामरे॥
निज० ॥ ६ ॥

हे मान को देनेवाले श्रीकृष्ण ! रति के समय शिथिल हुए मोरपंखके समूहके सदृश सुन्दर कामदेव की पताका के समान मेरे केशपाश में फूल गूँथिये ॥ ६ ॥

सरसघने जघने मम शम्बरदारणवारणकन्दरे।
मणिरशनावसनाभरणानि शुभाशुभ वासय सुन्दरे॥
निज० ॥ ७॥

हे प्राणनाथ ! परमानन्दमय और कामदेवरूपी मदोन्मत्त [हा]थीकी कन्दराूपी मेरे सुन्दर जघनोंपर आप रत्नोंकी करधनी, [वस्त्र] और आभूषण पहनाइये ॥ ७ ॥

श्रीजयदेववचसि शुभदे हृदयं सदयं कुरुमण्डने।
हरिचरणस्मरणामृतनिर्मितकलिकलुषज्वरखण्डने ॥
निज० ॥ ८ ॥

हे भगवद्भक्तों ! भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानरूपी अमृतसे [क]लियुगी पाप के नाशक, कल्याणप्रद और अलंकार के समान [म]नोहर जयदेवकवि द्वारा रचित इस गीतको और अपने अन्तः[कर]णोंको लगाइये ॥ ८ ॥

[रच]य कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयो-
[र्घ]टय जघने काञ्चीमञ्च स्रजा कबरीभरम्।
[क]लय वलयश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुरा-
[व]िति निगदितः प्रीतः पीताम्बरोऽपि तथाकरोत्॥१॥

हे प्राणप्रिय ! आप मेरे स्तनोंपर सुन्दर पत्र रचना कीजिये, [क]पोलोंपर लताबेल आदि की रचना कीजिए, कमरमें करधनी [प]हनाइये पैरोंमें पैजेब पहनाइये, इस तरह राधासे कहे गये [पी]ताम्बरधारी कृष्णने वैसा ही किया ॥ १ ॥

पर्यङ्कीकृतनागनायकफणाश्रेणीमणीनां गणे
सङ्क्रांतप्रतिबिम्बसङ्कलनयाबिभ्र द्वपुर्विक्रियाम् ।
पादाम्भोरुहधारिवारिधिसुतामक्ष्णां दिदृक्षुःशतैः
कायव्यूहविचारयन्नुपचिताकूतो हरिः पातु वः ॥२

शय्यारूप शेषनाग के फणमण्डल के मणियों में प्रतिबिम्बित अनेक वेषोंको धारण करनेवाले, चरणसेवा करनेवाली लक्ष्मीको सैकड़ों नेत्रोंसे देखनेकी इच्छा रखनेवाले भावयुक्त भगवान् आपकी रक्षा करें ॥ २ ॥

यद्गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्वैष्णवं
यच्छृङ्गारविवेकतत्त्वरचनाकाव्येषुलीलायितम् ।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः॥

गानविद्यामें जो चतुरता है श्रीकृष्णचन्द्रजीका जो ध्यान तथा शृंगार रस के वास्तविक स्वरूप की रचना वाले काव्यमें जो भगवल्लीला का वर्णन है उन सबको, श्रीकृष्णमें एकाग्रचित्त रखनेवाले पण्डित जयदेवकविकृत गीतगोविन्दसे सीखें ॥ ३

साध्वी माध्वीकचिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि । द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृत मृतमसि क्षीर

नीरं रसस्ते । माकन्द ! क्रन्द कांताधर धरणितलं
गच्छ यच्छान्ति भावम् । यावच्छृंगारसारस्वतमिह
जयदेवस्य विष्वग्वचांसि ॥ ४ ॥

जयदेवकवि अपने काव्यकी प्रशंसामें कहते हैं—'इस लोक में जबतक यह शृङ्गार-रस प्रधान काव्य स्थित है, तबतक हे माध्वीक ! तेरी चिन्ता व्यर्थ है, अर्थात् शृङ्गार रस के काव्य की मधुरिमाके सामने तेरी मिठास फीकी है । हे शर्करे (शक्कर) तुम इसकी तुलनामें कठिन हो । हे द्राक्षे ! तुम्हें इसके सामने कौन देखेगा ? हे अमृत ! तुम इसके सामने मृत तुल्य हो । हे क्षीर ! तुम्हारा स्वाद इसके सामने पानी सा है । हे माकन्द ! तुम अब रोओ ! हे प्रियतमाके अधर तुम भी पातालमें चले जाओ । अर्थात् मेरे काव्य रसकी तुलनामें उपर्युक्त सभी वस्तुएँ नीरस हैं ॥ ४ ॥

श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य ।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठेश्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु॥५॥

इति श्रीगीतगोविन्दे महाकाव्ये जयदेवपण्डितकृतौ
सुप्रीतपीताम्बरो नाम द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥१२॥

माता राधा देवी पिता श्रीभोजदेवके पुत्र श्रीजयदेव कवि यह गीत गोविन्द कविता पराशरादिक पूर्व कवियोंके कण्ठ समर्पित हो ॥ ५ ॥

इतिमोरेश्वरशर्मा देशमुख विरचित भाषाटीका-
नुवादित गीतगोविन्दकाव्य समाप्त ।

—❀○❀—
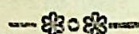
राधाविनोदकाव्यम्

मालीनो घनमाली मालीनो वनमाली
मालीनो बलमाली मालीनोऽवतु माली ॥ १ ॥

विधुसुहृद्विरहानलपीडिता विधुसुहृत्तरलाऽनिलपीडिता ।
विधुसुहृद्वदनाऽनिलपीडिता विधुसुहृत्सुगिरोऽकिरदीडिता ॥ २ ॥

उदयते दयते दयते शशी सखि करैरकरैस्तिमिराकरैः ।
दिशमिमां चर मां च रमारमं कमलकोमललोलविलोचनम् ॥३॥

कुमुदबन्धुरबन्धुरबन्धुरः स तनुतेऽतनुते तनु ते ततः ।
हिमकरोऽहिमता हिमतां मतां किमनु मां सदृशंसदृशं विधोः ॥४॥

कमलिनीमलिना मलिनाऽलिना विचलताचलतासुलताशुभाम् ।
विधुतभां विधुतां विधुभानुभि—र्नयनयोरनयोर्नयलीनयोः ॥ ५ ॥

सखि विभाति विभाऽतिऽविभाऽविभा न सरसीसरसारससारसैः ।
अलिकुलैर्विधुना विधुता धुता विनमदब्जमुखीविमुखी स्थिता ॥६॥

कुमुदिनीदयितो दयितोनतां निजकरैरकरैर्दहति स्फुटम् ।
सदयमेकपदे विपदेऽभव—द्विकचपुष्करिणीहरिणीदृशः ॥ ७ ॥

विधुरिता धुरिता धुरितादहन् विधुरयं जनितो जनितोऽङ्कभूव् ।
इह वदन्विगते विगतेऽब्जिनी रविमतिर्विमतिर्निमिमील सा ॥८॥

मलयपन्नगपन्नगमण्डली—कवलितो बलितो नु वनानिलः ।
सदयमङ्गमदङ्ग मदङ्गकं दहति यद् भ्रमयद् भ्रमयन्नयम् ॥ ९ ॥

अयि रसालवनी नवनीरनी—रनवनी नवनीपवनीवती ।

अलिकुलाखिकुलाऽलिकुलाकुला प्रतिहि मामहिमामहिमा हिमा।
बकुलमाकुलमालि परागितं मधुपराजपराजपरालिभिः ।
विशदशारदशारदशारदं शशकलङ्ककलङ्ककलङ्कितम् ॥ १
नवमशोकमशोकमशोकदं सुरभिवारभितालिरवारतम् ।
सखि समाश्रयमाश्रयमाश्रयः कमलिनीमलिनीप इवाऽगतः ।
सखि हिताऽसिमतासि मतास्थ मां नवमशोकमशोकमशोकद
तदिह माधव माधवमाधवं व्रज हरिं नवनीरदनीरदम् ॥ १३
इति सखीगदिताऽगदिताऽदिता—नवनराय वराय वरा
इति गिरं कलया कलया कला पटुगिरा मृदुता मृदुतादुता ॥
मलयजं तनुतेऽतनु ते तनौ सहचरीनलिनी नलिनीदलम् ।
सुनयनाऽनलदं नलदं च सा तदपि सीदति सीदति बन्धुता ॥
समुदितेऽमुदितेऽमुदितेत्वयं हिमकरेमकरेनकरे श्रुती ।
पिकरवेऽवरवेवर वेति सा हरिणलांछनलांछनलांछना ॥ १६
न सहते सहते सह ते सखी तव वियोगवियोगमयोगहत् ।
सपदि तां तरुणीं सरणिं मणिं किरतु नाम नवं नवनीविजम् ॥
अथ तया कलया कलया शुभां वनजदामजदामजदीप्तिमान् ।
हरिरगात्तमगात्तमगाच्च सा मुदमतीवमतीवदृशोः स्थितम् ॥ १८
रामचन्द्रकविना कविनाऽदः पुरुषोत्तमसुतेन सुतेन ।
राधिकाहृदयशोकदमासी—द्राधिकाहृदयशोकदमासीत् ॥ १९

इति श्रीपुरुषोत्तमात्मजजनार्दननन्दनरामचन्द्रकविकृतं
राधाविनोदाख्यं काव्यं समाप्तम् ॥

मुद्रक—बम्बई प्रेस, वाराणसी ।

लाल-किरन

लहू-लुहान कुछ घड़ी में आसमाँ होगा।
इसी आनन्द के आलम में किरन फूटेगी ॥

परमानन्द पाण्डेय 'आनन्द'

प्रकाशक की ओर से——

निश्चय ही 'लाल किरन' ऐसे तमाम लोगों को एक मार्ग-दर्शन देगी जो लोग युग परिवर्तन के लिए कशमश रहे हैं ऐसा विश्वास है। आज का बंधन अपने आप में इतना कस गया है कि अब घड़ी दो घड़ी में ही चरमरा कर टूट जाएगा ऐसा भी कहा जा सकता है और ऐसा सम्भव भी है। परन्तु वक्त के भरोसे तो वो लोग बैठे रहते हैं जो या तो क्लीव और निष्क्रिय हैं या अवसरवादी खुद परस्त। लेकिन ऐसे लोग भी कम नहीं जो वक्तका इन्तजार नहीं करते उनमें अलौकिक क्षमता एवं आत्माभिमान भी होता है। उन्हें चाहिए एक सच्चा एवं दृढ़प्रतिज्ञ साथी या एक ऐसी आवाज या एक ऐसा निर्देशक जो लगे कि हमेशा सामने खड़ा खड़ा मुस्कुरा रहा है। लाल किरन की आवाज में भी कुछ ऐसी ही बात है।

अतः इसके प्रकाशन की आवश्यकता भी इसी माने में है। इतना ही नहीं आज के समाज को भी ऐसे साहित्य की आवश्यकता है।

नरेन्द्र प्रसाद सुजन
मंत्री
प्रगतिशील लेखक संघ
शाखा सिवान
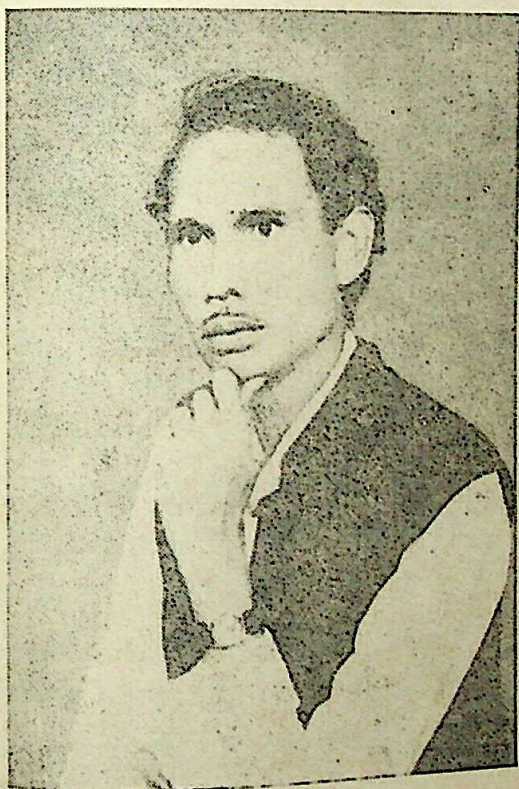
परमानन्द "आनन्द"

सामयिकी

मानव-समाज अपने प्रागैतिहासिक काल से लेकर अबतक विभिन्न परिवर्तनों से गुजरता हुआ यहाँ तक पहुँचा है। सत्ता का जुआ मनुष्य ने स्वेच्छा से लोक कल्याणकारी राज्य के पक्ष में स्वीकार किया। किन्तु प्रजातन्त्र की उत्पति के साथ ही एक ऐसी नापाक, घिनौनी व्यवस्था का जन्म हुआ, जो एकाधिकार और इजारेदारी के हाथों पली, गरीबों का रक्त पीकर मोटी हुई। इसने मानव के हक-हकूकों का ही गला घोंट दिया। सम्पूर्ण समाज स्पष्टतः दो वर्गों शोषक और शोषित में विभाजित हो गया। इसने प्रजातन्त्र के प्रमुखतः तीन आधार स्तम्भों, स्वतन्त्रता, समता और भाईचारा का ही सफाया कर दिया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् यह देश भी स्पष्टतः उसी पूँजीवादी लीक पर चला। अशिक्षा, अत्याचार, भ्रष्टाचार एवं शोषण के कारण प्रजातन्त्र की जड़ हिल गई। रहनुमा त्याग-तपस्या की कीमत अदा करने लगा। सम्विधान पूँजीपति के महल की चौकीदारी करने लगा। २७ वर्षों की इस लम्बी अवधि में सत्तर प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन के लिये मजबूर कर दिये गये। हरिजनों को ज़िन्दा जलाया गया। विरोध का मुँह संगीनों से बन्द कर दिया गया। मत लूटकर मतपेटी भर दी गई। निर्वाचन स्वांग बनकर रह गया। प्रजातन्त्र की पाञ्चाली का चीरहरण होता रहा किन्तु कोई कृष्ण लाज बचाने

नहीं आया।

सर्वोदय के द्वारा रामराज्य आने को था। कितना आकर्षक, मोहक और लुभावना दर्शन था यह। सबका भला होगा—शोषक का भी और शोषित का भी। बाघ और बकरी एक घाट पानी पीयेंगे। सही बात। पर खाना कहां खायेंगे? पूँजीपति का हृदय परिवर्तित होगा और द्रवित होकर गरीबों को उनका हिस्सा दान कर देगा। इस प्रकार सर्वोदय आयेगा रामराज्य आयेगा। सभी चैन की बंशी बजायेंगे। पर कुछ हो न सका।

इस बीच कभी एक बाप और कभी एक बेटी ने भी समाजवाद का नारा दिया। क्योंकि इस युग का यह सर्वाधिक प्रभावकारी नारा था। किन्तु लफ्फाजी कितने दिन चलती। आखिर कलई खुलकर रही।

साहित्यकार से कुछ आशा थी। कुछ कुत्ते भूँकते भी थे, किन्तु वे भी रोटी पाकर दुम हिलाने लगे।

उक्त परिप्रेक्ष्य में लिखी गई "लाल-किरण', क्रांतिकारी कवि श्री परमानन्द पाण्डेय 'आनन्द' की निर्भीक रचना है। कवि गांधीवादी नहीं, मार्क्सवादी है। कुछ दिन पहले एक आवाज आई थी।

> उठो मेरी दुनियां के गरीबों को जगा दो।
> काख़-ए-उमरा के दरो दीवार हिला दो॥
> जिस खेत से दहकाँ को मयस्सर नहीं रोजी।
> उस खेत के हर गोसा-ए-गंदुम को जला दो॥
>
> इक़बाल

कवि आनन्द के स्वर में पुनः वह आवाज आने लगी है—

चूर-चूर कर दो चकमक, कनकाभ शिखर कों छन में।
और बाँट दो उसे अनादृत, गिरे हुए जन-जन में॥

स्वतन्त्रता के इस लम्बे दौर में अशिक्षित, दबी-कुचली, भोली-भाली, सीधी-साधी जनता को झूठे वादे और झूठे नारों से बहलाया गया। गरीबी बढ़ती गई, भूखमरी बढ़ती गई। कांग्रेसी राज्य में अहिंसा के नाम पर जितनी गोलियाँ चली उतनी अंग्रेजी शासन में नहीं चलीं। कवि आनन्द के शब्दों में—

कश्मों को छोड़िये सभी वादे भुला दिये।
ये उनसे पूछिये कि वो क्या-क्या भुला दिये॥

प्रसिद्ध क्रांतिकारी सूरजनारायण सिंह की शहादत का जख्म अभी भरा नहीं था कि फिर लाठियाँ गोलियाँ बरसने लगीं। अब शहादत के लिए छात्र आगे आये हैं। उन्हें भी लाठियों और गोलियों से ही संतुष्ट किया जा रहा है। कवि आनन्द ने सत्ता के मद में अंधी सरकार को आगाह किया है—

ये फूल हैं, इनको मत कुचलो ये नाज़ुक हैं अनजान भी हैं।
इनसे ही चमन की रौनक है. ये शान हैं और महान भी हैं॥

ऐसो-मुगलिया अन्दाज अब चल नहीं सकता। ऐसो-आराम के दिन लद गये। अब नबाबी नहीं चलेगी। कवि आनन्द ने स्पष्ट कहा है—

आरामगाहों में अब फैसले नहीं होंगे।
तड़पते अब हमारे हौसले नहीं होंगे।
हुस्नवालो सुनो यह दौर ही कुछ वैसा है।
इन्हें कहनेवाले लोग अब नहीं होंगे॥

आज देश एक अजीब संकट के दौर से गुजर रहा है। इतिहास एक नया मोड़ लेने को आतुर है। यह वक्त सोने का नहीं जागने का है —

रहो गफलत में नहीं जागते रहो साथी।
ये है शामत की घड़ी जागते रहो साथी॥

कवि भविष्य के प्रति आस्थावान है। यह अंधेरा अवश्य छँटेगा। यह सब तब होगा जब उदयाचल से लाल-लाल किरणें फूटेंगी। अनास्था का कोई प्रश्न नहीं ये किरणें आ भी रही हैं अपने नये अंदाज में।

बड़ी पैनी नजर है लाल-लाल किरनों की।
गजब कमाल की है चाल आज किरनों की॥

अब शीघ्र ही आसमां रक्तरंजित होगा। इसी परिवेश में लाल किरण फूटेंगी।

लहूलुहान कुछ घड़ी में आसमाँ होगा।
इसी आनन्द के आलम में किरण फूटेंगी॥

कवि के समक्ष भाषा का कोई विवाद नहीं। उर्दू के प्रसिद्ध शायर बेकल उत्साही के समक्ष गजल है, मगर वो गीत लिखने लगे हैं। "है गजल तो मेरे सामने, मैं गीत लिख रहा हूँ।" ठीक वैसे ही कवि आनन्द के सामने गीत है, मगर वो गजल लिखने लगे हैं।

कवि के लेखन का उद्देश्य हिन्दी के सात मजारों में अपना नाम लिखाना नहीं है। कविता आवाम के लिए लिखी गई है और वह आवाम तक जाय, कवि का यही इरादा है।

सीवान मजदूर दिवस वीरेन्द्र कुमार आहत
१—५—७४ एम॰ ए॰

ताज-ताज से किरन समेटो,
किरन-किरन से जोती।
मुक्त हस्त जग में बिखेर दो,
ताज-ताज के मोती ॥

मोती जिसमें सीप-सीप के,
वक्षस्थल का प्यार भरा है।
जन-जन की छाती का जिसमें,
प्यार और रसधार भरा है।

चूर-चूर कर दो चकमक-
कनकाभ शिखर को छन में।
और बाँट दो उसे अनादृत-
गिरे हुए जन-जन में ॥

मणि वह जिससे चकमक-चकमक,
आज ताज सिंहासन।
वही फाड़ दे अंधकार,
जिससे आकुल जन-जीवन ॥

जिन हीरों के अहंकार में,
झूम रहा सिंहासन।
उसे छींट दो खेतों में,
लहरा जाए जन जीवन।

अत्याचार अराजकता का,
महाजाल फैलाकर।
और विहँसना क्या अच्छा है,
इतनी प्रभुता पाकर।

कृत्रिम कारा के लौह द्वार,
विषवमन क्रुद्ध धाराओंका।
रोको-रोको हे! महाकाल!
उत्पात क्रुद्ध उल्काओं का।

फूटे किरन कुहा फट जाए,
चले रश्मि की धारा।
जले विषमता परवशता सब,
यही हमारा नारा।

(एक)

कैसे कह दूं कि शनम दौरे मसीहा तुम हो !
जर्रा-जर्रा यहाँ बिमार नजर आता है ॥

दर्द में डूबा हुआ आज का सारा आलम।
कितना बेकल यहाँ हर तार नजर आता है ॥

इतनी बेचैनियाँ पहले कभी देखी न गयीं।
अश्क में डूबा हर रुखसार नजर आता है ॥

गैर को क्या कहूँ थमते नहीं अपने आंसू।
दर्दे-दरिया में हर अरमान डुबा जाता है ॥

ऐसी हालत में तुम्हें किस तरह हँसी आती ॥
बेशरम बेरहम को ऐसे मजा आता है ॥

ऐसे में तूही कहो कैसे तुम मसीहा हो ॥
उजड़ता जाता हर दयार नजर आता है ॥

(दो)

महफिल की प्यास देखकर सागर छुपा लिए।
पानी में आग तुमने शनम खुद लगा दिए॥

आखिर ये खुद परस्ती बताओ तो किस लिए?
इनसे छुपा के तुमने क्या सागर छुपा लिए॥

आखिर ये प्यास प्यास है सागर न छोड़ेगी।
जब आगए प्यासे तो क्या सागर छुपा लिए॥

हर सक्स के सीने में तमन्ना की आग है।
वो आग लग गयी तो क्या सागर छुपा लिए॥

येही शामत है सनम तूने यूं धोखा देदी।
सागर आवाम का है क्यों सागर छुपा लिए॥

(तीन)

खयाल अपना नहीं आज तो मजलिस का करो।
आवाम बैठी है वो जाम सामने तो धरो ॥

ये जाम आम है कुछ इसमें तुम्हारा तो नहीं।
ये लोग जो भी कहें आज वही काम करो ॥

मिलेगा जैसे अपना हक ये आज ले लेंगे।
अजी बेहतर है कि तुम ऐसा इन्तजाम करो ॥

तुम्हें खबर नहीं ये लोग इन्कलाबी हैं।
बांट दो हक सभी का आज कुछ तो काम करो ॥

खुदपरस्ती तुम्हारी आज रंग लायेगी।
साथ अपने इस आलम को न बदनाम करो ॥

(चार)

फैसला आप नहीं वक्त मगर कर देगा ।
आम मजलिश में हकिकत को ला कर रख देगा ॥
कौन दुश्मन है कौन आज अपना साथी है ।
कौन गद्दार कौन युग-युग का घाती है ।
ये राज क्या राज है इसका भी फास कर देगा ॥
फैसला··· ··· ···

किसके बुलाने से ये गर्दीश यहां पर आई है ।
किसकी इशारे पर बढ़ती हुयी ये खायी है ॥
आमलोगों के सामने उसे वो कर देगा ।
फैसला··· ··· ···

किसने इन्सान से इन्सानियत को छीना है ।
किसने इन्सान की सब खैरियत को छीना है ॥
रुबरु सबके सामने वो ला के कर देगा ।
फैसला··· ··· ···

किसने इन्सान को है अब तलक भूखा रखा ।
लहलहाते चमन को अब तलक सूखा रखा ॥
लोग देखेंगे क्या से क्या वो छन में कर देगा ।
फैसला··· ··· ···

(पाँच)

मुस्कुरा देते अगर तो समां बदल जाती।
रोशनी बिछ जाती जमी भी लाल हो जाती॥

इतनी बेचैनियाँ हैं जिनकी इन्तजारी में।
उनकी आवाज तो हर रोज सुबह आ जाती॥

आना ही चाहते हैं ऐसे में वो भी लेकिन।
उनके पावों में कौन चुपके कुछ चुभो जाती॥

आँधियाँ सज रहीं बवंडर हैं इन्तजारी में।
उनके आते ही यहाँ कुछ न कुछ तो आजाती॥

कोई कह दे अभी आवाम सजग हो जाए।
मजा आ जाता और मंजिल करीब आ जाती॥

(छः)

मेरे गानों में मेरी अपनी कशमसाहट है।
आपके दिल में वही आज की घबराहट है॥

अपने आगोश में भर लेने की ये बेताबी।
उन्ही बेताबियों की आज सरसराहट है॥

ले रहीं पर्दे में अंगड़ाईयाँ बेकल होकर।
उन्ही जजबातों की अंगड़ाईयों की आहट है॥

आप परेशान हैं ये वक्त भी परेशाँ है।
आ रहा है वही जिसकी ये गुनगुनाहट है॥

है आनन्द में डूबी हुई महफिलको ही खतरा।
आपके दिल में वही आज सनसनाहट है॥

(सात)

बात बनती ही नहीं और बिगड़ती जाती।
रात ढ़लती ही नहीं नींद उचटती जाती॥

कैसे जीएगा कोई इस तरह कशमकश में।
जो अपने आप में यूँ खुदही सिमटती जाती॥

है अवाम को हर वक्त खुदी का खतरा।
आग बुझती ही नहीं और सुलगती जाती॥

ये थपेड़े भवँर को दे चुके दावत यारों।
तिनके तिनके पे ये शामत यूँही घिरती जाती॥

येही इन्साफ है तिनकों का सफाया क़रदो?
खत्म होती ही नहीं बात यूँ बढ़ती जाती॥

(आठ)

सुबह होगी कि रात आँसुओं में डूबेगी ?
जीन्दगी मिल सकेगी या कि कोई लेलेगी ?

ऐसी ये जीन्दगी काटे से भी कटेगी भला ?
गैर मुमकिन है हँसी जब तो कोई रो देगी ॥

आप बेफिक्र हैं अवाम को है बेचैनी ।
ऐसे में आपसे ये जाम कोई ले लेगी ॥

लहूलुहान कुछ घड़ी में आसमाँ होगा ।
इसी आनन्द के आलम में किरन फूटेगी ॥

(नौ)

आज माँझी की हँसी सबकी जान ले लेगी।
अवाम अनजान है रो रो के जान दे देगी॥

ये नाखोदा नहीं कातिल है बड़ा बदनियत।
आज कस्ती की किसी तरह नहीं खैरियत॥

रहो गफलत में नहीं जागते रहो साथी।
ये है शाभत की घड़ी जागते रहो साथी॥

नहीं पता कि क्या माँझी की आज नियत है।
समझ रहा है वो कस्ती मेरी हकियत है॥

भवँर को देर नहीं कुछ भी निगल जाने में।
कहाँ तुम्हारा कोई आए जो बचाने में॥

अजी माँझी के ये अंदाज देखते जाओ।
हमारी राय है कि इनक्लाब तुम लाओ॥

(दस)

आरामगाहों में अब फैसले नहीं होंगे।
तड़पते अब हमारे हौसले नहीं होंगे॥

जितनी भी हो चुकी इस तरह फजिहत अपनी।
आवाम जो भी कहेगी वो सब भले होंगे॥

इतनी खाहिश है तो खुद ढ़ालकर भले पीओ।
ढ़ालनेवाले थे वो लोग अब नहीं होंगे॥

हुश्न वालों सुनों यह दौर ही कुछ वैसा है।
हुजूर कहने वाले लोग अब नहीं होंगे॥

न होंगी महफिलें न हुश्न की वो दीवारें।
जलेंगे अब नहीं वो लोग जो जले होंगे॥

नहोगा दर्द यहाँ आज से किसी दिल में।
जीन्दगी लूट लें वो लोग अब गहीं होंगे॥

(ग्यारह)

बात फैल गयी है अब तो बात बोलेगी।
ज़बान चुप थी ज़माने से वो भी बोलेगी॥

ये है सरदर्द कि कह कह के मुकर जाते हैं।
ये पाबंदियाँ कुछ रंग आज घोलेंगी॥

ऐसा मंजर है कि तुफान मुस्कुराता है।
हर तरफ की हवाएँ एक साथ डोलेंगी॥

इतना कचरा ये गंदगी जो हर जगह फैली।
बात की बात में ये सब हवाएँ ढ़ोलेंगी॥

साफ़ तो होगा इस कदर कि आप देखेंगे।
जब भी अवाम इन्तजाम सारा ले लेगी॥

रात आखिर खतम हो चुकी है,
लड़खड़ाते अँधेरे खड़े हैं।
चन्द लमहे गुजरने के खातिर,
वक्त के द्वार पर अब पड़े हैं।।
वक्त इनको निगल जाएगा ही,
जान तारों में कुछ भी नहीं है।
पर्दा अब तो बदलने है वाला,
खेल बाकी तो कुछ भी नहीं है।।
रात के साये में खेल जैसा,
वक्त ने अपनी आँखों से देखा।
चाहे वह तो बता सबको देगा,
अपनी आँखों से जो कुछ है देखा।।
कोई माने नहीं माने फिर भी.
वक्त का दिल भी पत्थर नहीं है।
आखिर क्यो पिघलने लगा है, ?
चाहे जैसा है बदतर नहीं हैं।।
लाल होही रहा आसमाँ है,
सुर्खरु हैं यहाँ हर निगाहें।
कितने बेकल हैं पंछी पखेरु,
ये धुआँ ही तो है उनकी आहें।।

(तेरह)

आसमाँ बंदगी करेगा किरन फूट रही है।
कैद की कड़ियाँ भी इस तरह आज टूट रही हैं॥

मात पे मात खाए जा रहे अंधेरे हैं।
टूटते जाते चाल बाजियों के घेरे हैं॥

बड़ी पैनी नजर है लाल लाल किरनो की।
गजब कमाल की है चाल आज किरनो की॥
ये है ललकार ही अपनी जो किरन फूट रही है॥

होस उड़ते जारहे हैं अब अंधेरों के।
पांच लड़खड़ा रहे हैं उनके घेरों के॥

फिजा बता रही कि अब तो कोई देर नहीं।
चाहे जो भी हो यहाँ मगर अँधेर नहीं॥
अंधेरे भाग चले देखो किरन फूट रही है॥

(चौदह)

यह देखो विजली कौंधी है,
धुआँ धुआँ आसमान है।
किसका गर्जन यह क्या कोई,
धरती पर तूफान है॥

महाकाल की हँसी, नहीं तो-
क्या कोई आह्वान है ?
या उनकी आहों के वादल,
जिनके झनझन प्रान हैं ?

यह कराह की हवा उठी है,
या कोई घमशान है ?
भूखों भीखमंगों नंगों का,
भय से आतुर प्रान है।

उसी आग की लपट है क्या ,
जिसमें जलता इन्सान है ?
या वेकल लोगों के दिल के,
ये सारे अरमान हैं ?

धरती पर तुफान उठा है,
अब जागा इन्सान है।
तोड़ रहे क्या हथ कड़ियाँ,
धरती के लाल जवान हैं ?

(पन्द्रह)

आप हँसते हैं इधर जान चली जाती है।
फिर भी कातिल को कभी रहम नहीं आती है॥

जितनी बेचैनियाँ अवाम में बढ़ती जाती।
आपको ऐसे में किस तरह हँसी आती है॥

बड़ा बेकल है अपने आप दर्द का आलम।
रंग लाएगी समाँ ऐसी हुयी जाती है॥

ये कहर भी खूब है कुछ आपकी मेहरबानी।
फिर तो सरकार की क्यों नींद उड़ी जाती है॥

आपकी हर अदाएं ऐसी जानलेवा हैं।
जीन्दगी कौन कहे मौत भी न आती है॥

(सोलह)

ये फूल हैं इनको मत कुचलो,
ये नाजुक हैं अनजान भी हैं।
इनसे ही चमन की रौनक है,
ये शान हैं और महान भी हैं॥

इन पर ये सितम क्यों करते हो,
इन पर क्यों कयामत की साजिस ?
येही हैं वतन के जीवनधन।
ये जान भी हैं इमान भी हैं॥

ए दौरे मसीहा रुक जाओ,
इन शोलों से मत खेल करो।
एक साथ उधर से झांक रहा,
आँधी भी है तुफान भी है॥

ये समाँ बदलने वाली है,
ये वक्त भी पलटा खाएगा।
इस दौर का दिल ही है काला,
बेइमान भी है बदनाम भी है॥

(सत्रह)

क़श्मों को छोड़िए सभी वादे भुलादिए।
ये उनसे पूछिए कि वो क्या क्या भुलादिए॥

कहते थे अपने आप अहिंसा के पुजारी,
खुदही करा रहे हैं कत्ल ऐसे आचारी,
क्या पूछिएगा इनसे ये सब कुछ भुलादिए॥

बैठे हैं सरेआम यूँ महफिल में देखिए,
कोई शरम नहीं है बेशरम को देखिए,
इस बेहया ने आज सभी को रूलादिए।।

सदा बहार की फिज़ा में चमन झूम रहा था,
हर फूल एक अदा से यहाँ झूम रहा था,
आखिर इसी जल्लाद ने खेंजाँ को बुलादिए॥

(अठारह)

आप से बढ़ के जमाने में भी हमदर्द नहीं।
और हमसा न यहाँ कोई भी बेपर्द नहीं॥

क्या उठा रखा है खुद पूछिए अपने दिल से ?
आबरु लेलिए नज़राने में ये दर्द नहीं॥

हमारी आँखों में जब छा गया सावन भादो।
पूछने तक नहीं आए कभी ये दर्द नहीं॥

जिनकी खिदमत में ही कटते थे कभी सामो-सेहर।
जान लेने पे तुले हैं मगर बेदर्द नहीं॥

(उन्नीस)

ये क्या हो रहा है, कहां जा रहा है?
कि हर शय ही मिटता चला जारहा है॥

हकिकत पर इन्सानियत पर है खतरा।
कि मरता सिमटता चला जारहा है॥

भयानक लपट में ये सब कुछ है जलता।
कि सब राख बनता चला जारहा है॥

लगी आग ऐसी न इन्सान जागा।
कि इन्सान खुदही जला जारहा है॥

हकिकत है कि हर नजर देखती हैं।
न अब तक बचाने कोई आ रहा है॥

(बीस)

जीन्दगी दे न सकी हाय तेरी वन्दगी ।
फिर भी वन्दगी वन्दगी हाय ऐसी जीन्दगी ॥

दुआ भी कर न सकी कुछ तो ऐ खुदा वालों ।
फिर ये दुआ कैसी और कैसी वन्दगी ?

मुफलिसी बढ़ रही इतनी कि इन्तहां ही नहीं ।
क्या सो रही वन्दगी कि आज ऐसी जीन्दगी ?

नकाब खैंच दिया आज वक्त ने बढ़ कर ।
वन्दगी कुछ भी नहीं जीन्दगी जीन्दगी ॥

सभी तो हार गए इनके भरोसा करके ।
रहम करम भी कुछ नहीं न कुछ ये जीन्दगी ॥

(इक्कीश)

यही नजरें हैं जो तुफान उठा देती हैं।
घोल देती हैं जहर और पिला देती हैं।

खून होता है सरेआम इनकी महफिल में।
तड़पके लोगों को ये जीन्दा जला देती हैं।।

किसकी हिम्मत है जो इन्साफ रुवरु मांगे
ऐसे दीवानो को फाँसी पे झुला देती हैं।।

कभी जो शर्वती हो जाती हैं ऐसी नजरें।
सारी महफिल कोही मौजों में डुबो देती हैं।।

कहीं जो बदल गए रंग इन निगाहों का।
गजब हो जाता है ये सबको रुला देती हैं।।

नहीं है ठीक कि कब क्या ये कुछ भी कर बैठें।
कभी कभी तो यूँही सबको रुला देती हैं।।

(बाइस)

किस तरह आपने आवाम में देखा हमको ?
वह न मिल सका आपने चाहा जिसको।

वक्त कहता है कि, वो मिल न कभी पाएगा।
गुज़र चुका है लौट कर न कभी आएगा।
आपने अपना नहीं अब तलक माना हमको॥

आपने समझा कि यह दौर जीत ही लेंगे।
अपनी सरकार में नज़राना सभी से लेंगे।
बोलिए किस तरह आपनें माना हमको॥

आप बर्बाद ही कर देंगे इस तरह से हमें।
खुशियाँ खूब मनाएंगे सताकर के हमें।
आज भी आपने अपना तो न माना हमको॥

(तेइस)

हम भी महफ़िल में यूँ इमान खरीदा करते।
इन्सान बेंचा करते और खरीदा करते॥

अपने मयखाने में साकी भी तो अपना होता।
रंग अपना होता जाम भी अपना होता।
तफरीहन हम भी यूँ मेहमान खरीदा करते॥

अपनी सरकार में कानून भी अपना होता।
अपनी रश्में होती रीवाज भी अपता होता।
अपनी तबियत से हम भगवान खरीदा करते॥

इक इशारे पे मिट जाती हजारों जाने।
कोड़े लगते कराहते हजारों दीवाने।
जीन्दगी हम भी सुबह शाम खरीदा करते॥

(चौबीस)

बुला लेती करीब अपने ये चाहत अपनी।
झुका देती है आसमाँ को भी चाहत अपनी।।

आप चाहें और वो करीब आ न सकें।
ये चाहत गैर की हो सकती है नहीं अपनी।।

आप चाहें तो इनक्लाब अभी आजाए।
जान आ जाती है गरदिल से हो चाहत अपनी।।

तेरी चाहत ही रहमो-करम है खुदा वालो।
येही तकदीर है दुआ है ये चाहत अपनी।।

मुफलिसी चाहो अगर तुम तो हवा हो जाए।
बड़ी नेमत है जीन्दगी में ये चाहत अपनी।।

(पचीस)

फ़ूलों के मुलायम पहलों से काँटों के कलेज फट जाएँ।
साँसों की हवा से आवारे काले बादल भी हट जाएँ॥

चाहत ही तुम्हारी ऐसे में तुम देखो वो रंग लाएगी।
बनकर आँधी उठ जाएगी गर्दों को बहा ले जाएगी॥

नजरों के निशाने से सहमी हर चीज उड़ा ले जाएगी।
सारी बेहोशी छन भर में खुद होस में भी आ जाएगी॥

इस दौर के नाजुक कदमों से राहों के रोड़े हट जाएँ॥
ऐसी ही हवा उठ जाएगी मुर्दों में जवानी आएगी।
दिल में तुफां और हाथों में ये बिजली भी शरमाएगी॥

अब ऐसी किरन है फ़ूट रही हर चीज में लाली आएगी।
वो रह न सकेगा मानो भी जो आज चमन का माली है॥

हर रंग बदले वाला है हर चीज बदलने वाली है।
ये ऐसी बला की प्यास लगी सागर भी कहीं जो चट जाएँ॥

(छब्बीस)

बुल बुल तड़प रही चमन वीरान पड़ा है।
हर गुल की तरफ देखिए वेजान पड़ा है॥

ऐसी नाजुक घड़ी और इस कदर की बेरुखी।
तिनके की तड़प कह रही कि है भूखी॥

ये फिजा ही है चमन को निगालने वाली।
बड़ा मन स है वेदर्द है दिल की काली॥

चमन को देखिए चुप चाप को देजवान खड़ा।
जहाँ के लोग देखते हैं चमन लूट-रहा है॥

ये है माली कि है कातिल जो चमन लूट रहा है।
चमन को जीन्दगी देदे कोई ऐसा है कहाँ॥

मजा कातिल को चखा दे को ऐसा है कहाँ।
नहीं है वक्त बचाओ चमन सुनसान पड़ा है॥

दो शब्द

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एकबार कहा था कि स्वतन्त्रता के पश्चात् साहित्यकारों ने अपना दायित्व सही ढंग से नहीं निबाहा है। दरअसल २६ वर्षों की आजादी में मानवीय सम्वेदना से प्रतिबद्ध साहित्यकारों ने काफी हाउसों में ऊँची-ऊँची बहसें भले की हों, किन्तु शोषण और उत्पीड़न के साथ या तो उन्होंने समझौता कर लिया है या सत्ता की राजनीति के समक्ष घुटने टेक दिये हैं। यथार्थ की नग्नता सर्वत्र लुभावने आवरणों से ढककर रखी गयी है! एक कवि की पंक्तियां याद आ रही हैं —

> यह पाप उन्हीं का हमको मार रहा है,
> भारत अपने घर में ही हार रहा है।

कवि परमानन्द पाण्डेय 'आनन्द' की निर्भीक लेखनी से सृजित 'लाल-किरन' युगबोध एवं युगसत्य की एक सही कड़ी है। आवाम की आवाज को दी गई अभिव्यक्ति निःसंदेह युग का एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

केदारनाथ पाण्डेय 'प्रशांत'
एम. ए. द्वय. बी. एड.
साहित्यरत्न

सीवान
१-५-७५

प्रगतिशील लेखक संघ सीवान के लिए आधुनिक प्रेस सीवान में मुद्रित एवं प्रकाशित।

मूल्य १.००

एम. एन. राय

विज्ञान की कसौटी पर दर्शन, संस्कृति और धर्म

अनु० एस० एन० मुन्शी

एम. एन. राय

विज्ञान की कसौटी पर दर्शन, संस्कृति और धर्म

अनु० एस० एन० मुन्शी

मनस्वी पुस्तकालय
सी-८६१, महानगर, लखनऊ-२२६००६

Vigyan Ki Kasauti Par :
Darshan, Sanskriti Aur Dharm (Hindi)

By M. N. Roy.

Translated by S. N. Munshi

Price : Rs. 2.00

प्रकाशक	मनस्वी पुस्तकालय सी–८६१, महानगर, लखनऊ–२२६००६
मूल्य	दो रुपये
संस्करण	प्रथम, नवम्बर १९७९
मुद्रक	मीनाक्षी प्रिंटिंग कारपोरेशन, २१५, निशातगंज (पांचवी गली), लखनऊ–२२६००६

पाठकों से निवेदन

प्रस्तुत पुस्तिका में आधुनिक विज्ञान पर आधारित भौतिक यथार्थवादी
् वैज्ञानिक मानववादी दर्शन के प्रवर्तक स्व० कामरेड एम० एन० राय
 निबन्ध अनूदित रूप में दिये जा रहे हैं।

प्रथम निबन्ध दर्शन की मुक्ति लेखक की मूल अँग्रेज़ी पुस्तक साइन्स
फ़िलॉसफ़ी की भूमिका का हिन्दी रूपान्तर है। दूसरा, धर्म और संस्कृति
 मूल अँग्रेज़ी रूप में सर्वप्रथम १९५० में कलकत्ता के दैनिक अमृत बाज़ार
ा के 'पूजा विशेषांक' में और फिर उसी वर्ष स्वय एम० एन० राय के
 साप्ताहिक पत्र रैडिकल ह्यूमैनिस्ट के ७ नवम्बर के अंक में प्रकाशित
था। दोनों निबन्धों में दर्शन-शास्त्र, धर्म और संस्कृति, तीनों की वैज्ञा-
दृष्टि एवं आधुनिक ज्ञान की कसौटी पर कसने की सरसरी तौर से
श की गयी है।

यह आवश्यक नहीं है कि हर पाठक इन निबन्धों में व्यक्त एम० एन०
के विचारों से सहमत ही हो। लेकिन ऐसे पाठकों के पास, अपनी
मति के पक्ष में कुछ तर्क और कुछ प्रमाण अवश्य होंगे। इन पाठकों से
न है कि वे मनस्वी पुस्तकालय को अपने तर्कों और प्रमाणों से अवगत
 की कृपा करें। यदि अन्य पाठक भी अपनी राय लिखकर भेजने का
करेंगे तो हम उनका बहुत आभार मानेंगे।

—प्रकाशक

दर्शन की मुक्ति

आम तौर से पढ़े-लिखे लोगों में 'दर्शन' शब्द के बड़े गोलमोल अर्थ
ाये जाते हैं। इसका अर्थ केवल काल्पनिक चिंतन ही नहीं लगाया जाता,
क काव्य-भावना भी दर्शन का विषय मानी जाती है। भारत में दर्शन
(मोक्ष अथवा पारलौकिक–रिलिजन) तथा ईश्वर-मीमांसा या धर्म-
स्त्र (थिओलॉजी) से भिन्न नहीं समझा जाता। वास्तविकता तो यह है
जिसे भारतीय दर्शन की विशेषता कहा जाता है, वह यह है कि दर्शन ने
यकालीन परम्परा से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया है, जैसा कि
धुनिक पाश्चात्य (यूरोपीय) दर्शन ने १७वीं शताब्दी में ही कर लिया
।

'आस्था-निष्ठा पर आधारित दार्शनिक सिद्धांत स्वयं अपनी अदार्शनिक
कृति के कारण वैज्ञानिक ज्ञान के मापदण्ड से नहीं आंके जा सकते हैं।
स्तव में स्वयं इन सिद्धांतों का ही यह दावा होता है कि वैज्ञानिक ज्ञान
मापदण्ड उन पर लागू नहीं किये जा सकते। अतः इनकी परीक्षा न्याय-
स्त्र के नियमों के अनुसार होनी चाहिए। आस्था-निष्ठा का भी एक
ाय होता है और धार्मिक दर्शन के आलोचक की जिम्मेदारी होती है कि
न्याय में हेत्वाभास अर्थात् तर्कदोष दिखलाये।

ईश्वर-विश्वास और विज्ञान

उदाहरण के लिए ईश्वर के विचार को ही लीजिए। यह विचार इस
श्वास का परिणाम है कि यह विश्व कभी न कभी, किसी एक समय पर
ा होगा और बिना किसी बनाने वाले अर्थात् रचयिता के कोई रचना
म्भव नहीं है। भौतिक विज्ञान की खोजों ने सृष्टि के इस भ्रामक सिद्धांत

को काट दिया है और इसके फलस्वरूप व्यक्ति, शक्ति अथवा धारणा, किसी भी रूप में ईश्वर को अमान्य बना दिया है। लेकिन जो निष्ठावान विश्वासी है, वह विज्ञान के प्रमाणों तथा प्राकृत दर्शन के तर्कों की उपेक्षा कर सकता है। अतः हमें उसका सामना उसी के अखाड़े में करना होगा; अर्थात् हमें उसके विश्वासों के न्यायोपक्रम में ही दोष अथवा हेत्वाभास प्रदर्शित करना होगा।

ईश्वर-विश्वास का एक बौद्धिक आधार है। प्रत्येक वस्तु तथा घटना का कारण ढूंढने के लिए आदिम मानव ने जो प्रयत्न किये थे, उन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही ईश्वर के विचार का उदय हुआ था। ईश्वर को समस्त विश्व का कारण मान लिया गया। अब अगर प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होना ही चाहिए, तो यह पूछना भी पूर्णतया न्यायसंगत है कि आखिर ईश्वर को किसने बनाया? आम तौर पर धर्म द्वारा जो यह उत्तर दिया जाता है कि ईश्वर नित्य है, अनादि-अनन्त है, इससे उत्तर पूरा नहीं होता है। एक बार यदि यह मान लिया गया कि ऐसी भी कोई चीज़ हो सकती है, जो स्वयंभू है, जिसका कारण कोई अन्य चीज़ नहीं है, और उसका कारण स्वयं उसके अस्तित्व में स्वभावतः ही है, अथवा उसी का एक गुण है—जैसाकि ईश्वर को बिल्कुल अन्तिम या मूल (फ़ाइनल) कारण मान कर किया जाता है—तो फिर इस मत के विरुद्ध भी कोई न्यायसंगत आपत्ति नहीं की जा सकती है कि विश्व स्वयंभू है, इसकी कभी एकदम सृष्टि नहीं की गयी और यह नित्य एवं अनादि-अनन्त है। प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की स्वयं प्रकृति में ही खोज करके विज्ञान ने धीरे-धीरे इस न्यायसंगत तथा बुद्धिसगत मत को मज़बूत कर दिया है। अतः ईश्वर-विश्वास को खत्म करने अर्थात् काट के बीज स्वयं उसी के न्यायशास्त्रीय आधार में निहित है।

दर्शन और रूढ़िवादी धर्मान्धता

हमारा उद्देश्य किसी दर्शन विशेष की आलोचना करना नहीं है। हमारा उद्देश्य तो आधुनिक विज्ञान की सिद्ध और प्रमाणित धारणाओं से

र्शनिक निष्कर्ष निकालना होना चाहिए। यदि इनसे यह पता चले कि आधुनिक वैज्ञानिक खोजें प्रकृति के एक रहस्यवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के लिए संकेत नहीं करती हैं, तो फिर धार्मिक दर्शन को छोड़ना आवश्यक हो जायेगा, क्योंकि इसके प्रवर्तक लोग चाहे यहां तक जाने को तैयार न हों, लेकिन आम तौर पर आजकल के नव-अध्यात्मवाद (नियो-स्प्रिचुअलिज्म) को धार्मिक दर्शन की पुष्टि तथा पुनर्सिद्धि समझा जाता है।

किसी पराभौतिक, प्रकृतिपारीण अथवा पारलौकिक शक्ति में विश्वास करके सिर्फ प्रकृति के भीतर ही प्राकृतिक चीजों तथा घटनाओं के कारणों की खोज नहीं की जा सकती है। इसलिए दर्शन के लिए रूढ़िवादी धार्मिक विचारों तथा ईश्वर-मीमांसा के मूढ़ाग्रहों को अस्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। १७वीं और १८वीं शताब्दियों में प्राकृतिक विज्ञान की प्रगति ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन को इस योग्य कर दिया कि वह धर्म की अंधविश्वासजन्य रूढ़ियों को अस्वीकार कर दे और ईश्वर-मीमांसा के मूढ़ाग्रहों के नियंत्रण से मुक्त हो जाय। यदि यह कहा जाता है कि आधुनिक, मुख्यत: भौतिकी से सम्बन्धित, वैज्ञानिक खोजों से विश्व का रहस्यवादी-अध्यात्मवादी होना सिद्ध होता है, तो इसका यह अर्थ होगा कि धर्म के विरुद्ध ऐतिहासिक संघर्ष में विज्ञान पराजित हो गया।

चूंकि प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) को अब उसके पुराने मूल शास्त्रीय रूप में पुन: प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है, इसलिए नव-अध्यात्मवादी लोग उसकी पैरवी तो नहीं करते हैं, लेकिन उनका दृष्टिकोण रहस्यवादी (मिस्टिक) अवश्य होता है। उनका कहना है कि प्रकृति की बिल्कुल तह तक नहीं जाया जा सकता। यह जानना कि यह भौतिक जगत वास्तव में क्या है, असम्भव है। मूल वास्तविकता अर्थात् चरम तत्व (अल्टीमेट रियलिटी) का स्वरूप तथा स्वभाव क्या है, यह मालूम करना हमारी ज्ञान-शक्ति के बाहर है। इस सब का क्या अर्थ हुआ ? इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान ने हमें इसके लिए मजबूर कर दिया है कि हम फिर से इस प्रकृति से परे की किसी अज्ञात शक्ति में विश्वास करने लग जायें।

पुराना शास्त्रीय प्रत्ययवाद भी शायद इतनी दूर तक जाने के लिए न कहे, क्योंकि वह बुद्धिवाद पर आधारित है और ईश्वर-मीमांसा के मूढ़ाग्रहों और धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध विद्रोह के फलस्वरूप उसका उदय हुआ था। अपनी भूमिका निभाने और ऐतिहासिक उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए दर्शन को धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद करके इस भौतिक जगत की वास्तविकता से ही अपना कार्य आरम्भ करना और शनैः शनैः भौतिकवाद की ओर बढ़ना होगा। विश्व के विषय में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखना दर्शन के लिए घातक तथा उसकी प्रगति के मार्ग का रोड़ा है; यह दर्शन को खत्म करके उसकी जगह अन्धविश्वास तथा अन्धनिष्ठा को ही पुनः प्रतिष्ठित कर देगा।

यदि वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसंधान हमें वास्तव में मजबूर करते हैं कि हम विश्व के वारे में रहस्यवादी दृष्टिकोण अपनायें, तब तो दर्शन को अपने पुराने काम पर ही लौट जाना चाहिए, अर्थात् भौतिक दृश्यों की तह में छिपे हुए आध्यात्मिक महातत्व की वास्तविकता की परिकल्पना (हाइपोथीसिस) के विषय में, एक महान विश्व-आत्मा तथा अन्य तमाम (एक-एक) आत्माओं के बीच के परस्पर-सम्बन्धों और इसी प्रकार की अन्य ऐसी समस्याओं के विषय में निरा मीमांसात्मक चिंतन किया करें जिन्हें मनुष्य कभी भी हल न कर सके, क्योंकि वे स्वयं अपने ही भौतिक अस्तित्व के कारण सीमित हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय अस्तित्व का आदर्श तथा लक्ष्य फिर वही असम्भव अथवा असाध्य का सम्पादन, हो जायेगा——ससीम द्वारा असीम की सिद्धि अथवा उपलब्धि। यदि यह सच है कि कुछ (अज्ञात ही नहीं) अज्ञेय कारणों की कल्पना किये विना विज्ञान प्रकृति की विभिन्न स्थितियों-घटनाओं की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकता है, तब तो दर्शन को फिर से उन्हीं समस्याओं के निरर्थक चिंतन के दलदल में फँस जाना पड़ेगा, जिनका स्वयं अपनी ही प्रकृति के कारण, समाधान हो ही नहीं सकता। अर्थात् प्रकृति से परे, प्रकृतिपारीण शक्तियों पर विश्वास पुनरुज्जीवित करना होगा; और तब धर्म सर्वोच्च सत्ता के अपने पुराने स्थान पर पुनः

स्थापित हो जायेगा, प्रकृतिपारीणता के मूर्तरूप में ईश्वर के स्वभाव एवं चरित्र के विषय में निरा चिंतन करना ही सर्वोच्च बौद्धिक काम होगा।

लेकिन, इसके विपरीत, यदि यह मालूम हो कि आजकल का यह नव-अध्यात्मवाद आधुनिक वैज्ञानिक खोजों का अनिवार्य परिणाम नहीं है, तो यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि धर्म और विज्ञान के ऐतिहासिक संघर्ष में विज्ञान की जीत हुई है। धर्म तथा विज्ञान, अन्धविश्वास तथा विवेक और आस्था-निष्ठा तथा ज्ञान के बीच का ऐतिहासिक संघर्ष अभी उन देशों में लड़ा जाना शेष है जहां अभी तक नहीं लड़ा गया है।

दर्शन : जीवन का सिद्धान्त

दर्शन की परिभाषा करना ही उसकी मौलिक समस्या है। उसकी परिभाषा यह की जा सकती है कि दर्शन जीवन का सिद्धांत है। इस परिभाषा को हम दूसरे शब्दों मे इस प्रकार कह सकते हैं कि दर्शन का काम है जगत की पहेली सुलझाना। दर्शन एक जीवन-सिद्धांत इसलिए है क्योंकि उसका उदय मनुष्य के उन प्रयत्नों के दौरान हुआ, जिनकी सहायता से उसने प्रकृति का अर्थबोध किया और अपने तथा अपने वातावरण के बीच का सम्बन्ध समझा, अपने पिछले अनुभवों को दृष्टि में रखकर जीवन की वास्तविक समस्याओं को हल किया, ताकि इनके समाधान से उसे अपने भविष्य के गर्भ में झांकने के लिए साहस मिले। इन प्रयत्नों का आरम्भ उसी समय हुआ, जिस समय से मनुष्य ने सोचना शुरू किया। धीरे-धीरे शारीरिक आवश्यकताओं ने उसके सामने प्राकृतिक वातावरण अर्थात् घटनाओं-स्थितियों के कारण जानने की आवश्यकता उपस्थित कर दी, ताकि वह उन्हें समझे और धीरे-धीरे उन पर नियंत्रण प्राप्त करे। जीवन स्वयं इस ब्रह्माण्ड, इस सम्पूर्ण जगत के विकास का ही परिणाम है। अतः जीवन का एक व्यापक सिद्धांत—अर्थात् मनुष्य के रूप तथा रूपान्तरण, भाव तथा भाव्यमान (बींग ऐण्ड बिकमिंग) की एक न्यायसंगत व्याख्या, उसकी वर्तमान सत्ता और भावी दिशा-संकेत आदि—तभी निरूपित अथवा

सूत्रबद्ध किया जा सकता है जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय रचना तथा योजना को अच्छी तरह समझ लिया जाय। इसलिए प्रकृति तथा जीवन के समस्त अंगों को अपने में सम्मिलित करने वाला व्यापक दर्शन वही हो सकता है, जो विश्व-प्रक्रिया (कॉस्मोलॉजी) पर आधारित हो।

विश्वास, निष्ठा और विवेक

दर्शन धर्म से पुराना है। यह उतना ही पुराना है, जितना स्वयं मानव। मनुष्य के बौद्धिक विकास की प्रक्रिया में निष्ठा या विश्वास की अपेक्षा विवेक का उदय पहले हुआ। उसकी मूल प्रवृत्तियाँ (इन्सटिन्क्ट्स) इसी विवेक का आदिम रूप हैं। बौद्धिक विकास के क्रम में आगे चलकर काफी बाद तक ये मूल प्रवृत्तियां विवेक के स्वचलित शारीरिक व्यवहार का रूप लिये रहीं। यहां पर हमें यह न भूलना चाहिए कि विवेक स्वयं उन्नत तथा विकसित अर्थात् मानवीय शरीर का एक जैविक गुणधर्म(बॉयोलॉजिकल प्रापर्टी) होता है। यह गुणधर्म कुछ विकसित पशुओं में भी प्रारम्भिक अर्थात् आद्यांगिक रूप में मिल सकता है।

इसमें कोई शक नहीं कि पशु-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अभी बहुत कम है। फिर भी जितनी थोड़ी-बहुत जानकारी है, उससे जो तथ्य मिले हैं, उनसे यह संकेत अवश्य मिलता है कि उच्चतर अवस्था वाले पशुओं की मनःस्थिति में भी विश्वास, आस्था या निष्ठा जैसी कोई चीज नहीं होती है, यद्यपि बुद्धि और संवेग (इमोशन) उनमें अवश्य पाये जाते हैं। आंगिक अथवा ऐन्द्रिक (आर्गेनिक) विकास-क्रम में कुछ और आगे चलकर अर्थात् आदिम मानव में भी हमें निष्ठा या विश्वास का अभाव ही मिलता है। प्रचलित धारणा के विरुद्ध, ईश्वर और आत्मा में विश्वास मनुष्य की चेतना में जन्मजात नहीं होती। प्रकृति से परे पर विश्वास करना मानव-स्वभाव या मानव प्रकृति में नहीं है। मानव-शास्त्र (ऐन्थ्रोपॉलोजी) द्वारा अर्जित ज्ञान ने आम लोगों में प्रचलित धारणा को झुठला दिया है। आदिम जातियों में ईश्वर तथा धर्म के विचारों का अभाव मिलता है।

सबसे प्राचीन धर्म अर्थात् सर्वसजीववाद (एनिमिज्म) से भी पहले लोग जादू-टोना में विश्वास करते थे और इसका अर्थ प्रकृति से परे पर विश्वास करना नहीं था। यह कोई चमत्कार भी नहीं था। जादू में विश्वास करना नियतिवाद (डिटरमिनिज्म) का सबसे आदिम रूप है। प्रकृति की सबसे मोटी बुद्धि वाली धारणा यह है कि यह एक नियमबद्ध व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक घटना के कुछ कारण होते हैं और प्रत्येक कारण के कुछ परिणाम। मनुष्य के विवेक की मूल प्रवृत्ति ने जादू अर्थात् नियतिवाद के मोटे रूप में व्यक्त होकर मनुष्य को इस नतीजे पर पहुंचाया कि वह प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की खोज करे। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास की आरम्भिक अवस्था में मनुष्य का यह मुख्य सिद्धांत रहा है कि प्रत्येक वस्तु तथा घटना का कोई न कोई कारण होता है। और यही सिद्धान्त तथा विश्वास दर्शन और विज्ञान दोनों का जन्मदाता है।

धर्म, दर्शन और विज्ञान

आधुनिक विज्ञान के विकास के साथ-साथ मनुष्य को प्रकृति के नियमों की भी जानकारी होती गयी। इसके फलस्वरूप दर्शन इस योग्य हो गया है कि इस जगत की स्वयंभू और अपने में पूर्ण व्यवस्था के रूप में व्याख्या कर सके। जगत की पहेली के बोधगम्य समाधान के लिए--अर्थात् प्रकृति की व्यवस्था के अर्थबोध के लिए--अब प्रकृति से परे की शक्तियों की परिकल्पना (हाइपॉथीसिस) की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है।

धर्म तभी तक एक बौद्धिक तथा नैतिक आवश्यकता का रूप लिये रहता है, जब तक उससे किसी दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति होती है। धर्म का दार्शनिक मूल्य उसके विवेकवादी, उसके बुद्धिवादी सार में ही है। प्रकृति से परे में विश्वास करना, बौद्धिक विकास की विकृत अवस्था का एक विशेष लक्षण है। मानवीय बुद्धि को सामान्य विकास के लिए ज्योंही उपयुक्त परिस्थितियां तथा सुविधाएं मिल जाती हैं, त्योंही वह निष्ठा और विश्वास की विकृत अवस्था को पार कर जाती है। धर्म के बुद्धिवादी सार

का ही यह न्यायसंगत परिणाम होता है कि विज्ञान धर्म को पराजित कर दे। इस संघर्ष में अपनी हार के बाद भी अपना अस्तित्व बनाये रखने अथवा हारी हुई लड़ाई को किसी तरह घिसट-घिसट कर चलाते रहने के लिए धर्म को अपना बुद्धिवादी सार छोड़ देना पड़ता है--अर्थात् आधुनिक विज्ञान के विकास के पश्चात धर्म के अस्तित्व का तमाम दार्शनिक आधार तथा औचित्य समाप्त हो जाता है। जिन असुविधाजनक परिस्थितियों से मजबूर होकर मनुष्य ने प्रकृति से परे में विश्वास किया था, उन्हीं परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद उसके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह चिंतन की धार्मिक प्रणाली की सीमाओं को भी पार कर जाय। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की एक अवस्था में यदि चिंतन की धार्मिक प्रणाली एक बौद्धिक तथा नैतिक आवश्यकता, अथवा मजबूरी, होती है--क्योंकि इससे उसकी मौलिक विवेकशीलता की विकृत अभिव्यक्ति होती है--तो उसी विकास की दूसरी अवस्था में उस चिंतन-प्रणाली का अंत होना भी उतना ही आवश्यक है।

विज्ञान के हाथों धर्म का पूर्णतः खत्म हो जाना अनिवार्य है, क्योंकि अपनी शैशवावस्था में मानव-जाति को जिन-जिन प्रश्नों का सामना करना पड़ा था और जिनसे विवश होकर उसे प्रकृति से परे की शक्तियों तथा उनके मध्यस्थों की कल्पना करनी पड़ी थी, वैज्ञानिक ज्ञान उसे इस योग्य कर देता है कि वह उन प्रश्नों का सही-सही उत्तर दे सके। उन प्रश्नों के उत्तर में जो कल्पनाएँ की गयीं थीं, यदि उनसे उनका सही-सही उत्तर मिल गया होता, तो धर्म ने विज्ञान के जन्म तथा विकास को रोक दिया होता। लेकिन धर्म ने प्राकृतिक वातावरण तथा घटनाओं की सही-सही व्याख्या नहीं की। उसने सिर्फ़ कुछ नये प्रकार की समस्याएँ अवश्य पैदा कर दीं, जिन्होंने मौलिक समस्याओं को ढँक भर लिया। एक बार जब प्रकृति से परे की शक्तियों की कल्पना में प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या पा ली गयी, तो उसके बाद स्वभावतः मनुष्य का ध्यान उन कल्पित शक्तियों अर्थात् देवी-देवताओं के स्वरूप, व्यवहार तथा आचरण आदि में लग गया। वास्तविक

जीवन की मौलिक समस्याएँ हल नहीं हुईं, न उन्हें समझा गया। उन्हें बिल्कुल छोड़ ही दिया गया, अलग ही कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके हल होने की सम्भावना ही जाती रही--अर्थात् समस्याओं का दमन हुआ, हल नहीं, और वे ज्यों की त्यों बनी रहीं। वे समस्याएँ हैं मानवीय अस्तित्व की। धर्म ने सिर्फ़ यही नहीं कि उन्हें हल नहीं किया, बल्कि उनके साथ-साथ आत्मा और ईश्वर आदि के स्वरूप तथा स्वभाव के विषय में काल्पनिक रहस्यों की ओर मनुष्य का ध्यान केन्द्रित करके काफ़ी लम्बे समय के लिए उनके समाधान का मार्ग भी बन्द कर दिया।

आधुनिक विज्ञान का उदय होना मानव-स्वभाव के मौलिक गुण, जिज्ञासा अर्थात जांच-पड़ताल (सर्च या इन्क्वायरी) करने की मनोवृत्ति को पुनः स्थापित करता है। मानवीय अस्तित्व में क्रियाशीलता अन्तर्निहित है। मनुष्य प्रकृति का साधारण और निष्क्रिय मात्र दर्शक नहीं होता है। यहाँ उसका मात्र होना ही उसे उसके भौतिक वातावरण के सम्पर्क में लाता है, कुछ करने के लिए उसे प्रेरित तथा मजबूर करता है और उस वातावरण का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा को उभारता है--अर्थात् इस ज्ञान की आवश्यकता के प्रति उसे सजग करता है। इसमें कोई शक नहीं है कि इस वातावरण का आरम्भिक ज्ञान उसे स्वतः शारीरिक आवश्यकता के रूप में मिलता है। इसीलिए विज्ञान की प्रगति मानवीय विकास के नियमों पर निर्भर रहती है। अतः दर्शन को विज्ञान के निर्णय अनिवार्यतः मान्य होने चाहिए। और जहां तक वह दर्शन का ही एक कच्चा, अपरिष्कृत रूप है, वहां तक धर्म को भी विज्ञान के निर्णय के आगे झुकना चाहिए।

क्यों और कैसे ?

मानव-जाति की आध्यात्मिक प्रगति उसके उन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई है, जो उसने 'क्यों ?' और 'कैसे ?' के उत्तर ढूंढने के लिए किये हैं। आम तौर से यह माना जाता है कि विज्ञान 'कैसे ?' का उत्तर देने में लगा रहता है, जबकि 'क्यों ?' का उत्तर देना दर्शन का काम है। यदि प्रथम प्रश्न

का यह अर्थ है कि विश्व क्यों है, तब तो यह प्रश्न दर्शन का नहीं हो सकता है, क्योंकि जिस रूप में प्रश्न किया गया है, उसमें 'मूल या अन्तिम कारण' (फ़ाइनल काज़) की तलाश है, जिसकी धारणा—मात्र न्यायसंगति की दृष्टि से ग़लत है, उसमें हेत्वाभास है, तर्क-दोष है। 'मूल कारण' की धारणा में नियतिवाद (डिटरमिनिज्म) का विश्वास अन्तर्निहित है। यदि प्रत्येक चीज तथा घटना का कोई न कोई कारण होना ही चाहिए, तब तो कार्य-कारण या कारण-परिणाम की श्रंखला अनन्त होनी चाहिए। वह बीच में कहीं टूट नहीं सकती, भले ही टूटने वाली कड़ी कितनी ही दूर पीछे क्यों न हो। अतः स्वय अपने ही तर्क से 'मूल कारण' की धारणा खंडित हो जाती है। इसमें विरोधाभास है। 'क्यों ?' के प्रश्न से उलझ कर दर्शन का चरित्र धार्मिक हो जाता है, क्योंकि न्याय (तर्क) की दृष्टि से ग़लत होने पर किसी समस्या का हल सिर्फ़ निष्ठा तथा इच्छित विश्वास के आधार पर ही ढूंढा जा सकता है, जिसमें शोध-अनुसंधान के परिणाम के मिलने की पहले से ही आशा कर ली जाती है।

'क्यों ?' प्रश्न के केवल दो वैकल्पिक उत्तर हो सकते हैं। विश्व इसलिए है, क्योंकि इसकी सृष्टि ऐसी ही की गयी है; और दूसरे यह कि विश्व इसलिए है क्यों कि बस यह है। ये दोनों ही उत्तर अपूर्ण हैं। पूर्ण होने के लिए पहले उत्तर में किसी (स्वयंसिद्ध) स्रष्टा या सृष्टिकर्ता की अभिधारणा की आवश्यकता है और तब यद्यपि उत्तर पूरा तो हो जायेगा लेकिन पूर्ण निश्चित या अन्तिम नहीं होगा। अगर न्यायसंगति की दृष्टि से विश्व के बारे में 'क्यों ?' का प्रश्न वैध तथा उचित है, तो फिर विश्व-स्रष्टा के बारे में भी वह उतना ही लागू होता है। यहाँ पर एक असावधान जिज्ञासु अनवस्था-दोष (रिग्रेशन ऐड इनफ़िनिटम) के फिसलाऊ मार्ग में फँस जाता है। दूसरे उत्तर का पूर्ण रूप यह होगा : यह विश्व है क्योंकि यह नित्य है, अनादि-अनन्त है। इस उत्तर को प्रामाणिक पुष्टि की आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति विज्ञान करता है। सृष्टि के सिद्धान्त के लिए विज्ञान में कोई स्थान नहीं मिल सकता। विश्व की नित्यता विज्ञान की इस खोज से

और भी पुष्ट हो जाती है कि इस (विश्व) का भाव तथा संभवन, रूप तथा रूपान्तरण (वींग और बिकमिंग) दोनों ही स्वयं इसी के अपने नियमों द्वारा संचालित होते हैं, इन्हीं पर आधारित होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरे के मुकाबले में पहला उत्तर न्यायसंगति की दृष्टि से तो भ्रांतिजनक है ही, साथ-साथ में यह कभी भी सत्यापित नहीं किया जा सकता; इसकी न तो परीक्षा की जा सकती है और न सिद्धि ही। इसलिए यह उत्तर दर्शन का उत्तर नहीं हो सकता है।

कहा जाता है कि विज्ञान 'क्यों ?' का उत्तर नहीं दे सकता है। यदि विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता है, तो इसका कारण यह है कि एक तो यह प्रश्न असंगत है, न्यायविरुद्ध है और दूसरे, यह निरर्थक भी है। किसी भी सफल वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल के लिए यह पहली और अनिवार्य शर्त होती है कि प्रश्न बोधगम्य हो, अनुभवगम्य हो, समझ में आ सके, क्योंकि प्रश्न का स्वरूप और भाव क्या है, इससे जाँच करने की स्वतन्त्रता अक्सर सीमित हो जाती है और साथ ही उसके उत्तर का स्वरूप भी पहले से ही निश्चित-सा हो जाता है। जब तक आप यह न बतलायें कि 'क्या' चीज 'क्यों' है, तब तक आपको 'क्यों ?' के उत्तर की आशा नहीं करनी चाहिए। यह प्रश्न ही अपूर्ण है, क्योंकि जाँच का स्वरूप अस्पष्ट रह जाता है। लेकिन यदि स्वरूप तथा भाषा की दृष्टि से इसे पूर्ण रूप में कहा जाय, तो अवश्य ही विज्ञान और केवल विज्ञान ही इसका उत्तर दे सकता है। यह विश्व जैसा है, वैसा क्यों है, यह हम तभी समझ सकते हैं, जब यह जान लें कि जिन चीज़ों से यह विश्व बना है, वे चीज़ें कैसे घटित होती हैं और कैसे आचरण करती हैं। रूपान्तरण, भाव्यमान या संभवन (बिकमिंग) के नियमों से किसी वस्तु की प्रकृति स्पष्ट होती है। वस्तु की प्रकृति समझने का कोई अन्य तरीका नहीं होता है। इस प्रकार, दर्शन की मौलिक समस्या अर्थात् जगत की पहेली का हल सिर्फ़ वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से ही निकलता है।

अनस्तित्व असम्भव

'क्यों' का प्रश्न न्यायविरुद्ध तथा असंगत है, क्योंकि इसमें एक विकल्प के रूप में 'अनस्तित्व' (नान-एक्ज़िस्टेन्स) की सम्भावना अन्तर्निहित है। अगर आप पूछें कि यह विश्व क्यों है. इसका अस्तित्व क्यों है, तो इसका मतलब यह होता है कि इसका होना कोई आवश्यक नहीं था। ऐसी स्थिति में, कम से कम परिकल्पना के रूप में ही सही, 'अनस्तित्व' अथवा 'असत्' की, एक वास्तविक, एक असली स्थिति के रूप में, कल्पना करनी पड़ती है। लेकिन अस्तित्ववान मन (एक्ज़िस्टेन्ट माइन्ड) 'अनस्तित्व' की कल्पना कर ही नहीं सकता है। इसके विपरीत, अगर यह प्रश्न किया जाय कि यह विश्व ऐसा इस प्रकार का क्यों है. तो यह बिल्कुल भिन्न बात होगी। इस रूप में प्रतिपादित करके प्रश्न का निहितार्थ (इम्प्लीकेशन) यह होगा कि यह विश्व और प्रकार का भी हो सकता था। इस स्थिति में, बिना साफ़-साफ़ कहे भी जिस वैकल्पिक सम्भावना को मान लिया गया है, वह 'अन-स्तित्व' नहीं है, बल्कि 'किसी और तरह का अस्तित्व' है। इस नये रूप में, प्रश्न का उत्तर विज्ञान द्वारा दिया जा सकता है, और दिया भी गया है जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि विश्व ऐसा इसलिए है क्योंकि यह स्वयं अपने में अन्तर्भूत नियमों का परिणाम है, क्योंकि इसके स्वयं अपने भाव (बींग), अपने अस्तित्व के नियम इसे किसी और तरह का बनने नहीं देते। प्रामाणिक रूप से यह बतला दिया गया है कि विश्व जैसा है, वैसा क्यों है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके अस्तित्व के किसी अन्य रूप की सम्भावना ही नहीं है—अर्थात् विश्व का, वर्तमान से भिन्न, कोई और रूप भी हो सकता था। अगर इसके भाव, इसके अस्तित्व के नियम भिन्न होते, तो यह विश्व भी भिन्न या भिन्न प्रकार का होता।

यद्यपि विश्व के किसी और भिन्न प्रकार के होने की सम्भावना से तो इन्कार नहीं किया जा सकता है, लेकिन फिर भी प्रकृति के सामान्य नियमों के भिन्न हो सकने का प्रश्न, जैसा कि फ्रांसीसी विद्वान हेनरी प्वान्करी ने सिद्ध किया है, निरर्थक है—क्योंकि जिन प्राकृतिक नियमों को हम आज

एकदम मूल और आधारभूत मानते हैं, उन्हीं नियमों को अपेक्षत: अधिक सामान्य नियमों पर आधारित पाया जा सकता है। प्रकृति के नियम जिस भौतिक सत्ता को संचालित-परिचालित करते हैं, उससे अलग या स्वतन्त्र नहीं होते हैं। कहीं पर भी उनका अपना बिल्कुल स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं पाया जाता है। उनके अस्तित्व को भौतिक सत्ता अथवा भाव (वींग) से किसी हालत में भी अलग नहीं किया जा सकता। एक अर्थ में, ये नियम इस भौतिक सत्ता के ही गुण-धर्म होते हैं और इसी के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति होती है।

आधुनिक भौतिक अध्ययन-अनुसंधानों ने इसका पता लगा लिया है कि भौतिक सत्ता की तरह-तरह की बदलती हुई अवस्थाएँ प्राकृतिक नियमों के कुछ निश्चित विशिष्ट रूपों से सम्बन्धित रहती हैं। यद्यपि अभी पूरी तौर से ऐसा किया नहीं जा सका है, फिर भी, इस सम्पूर्ण भौतिक सत्ता अर्थात विश्व या जगत की तमाम भिन्न-भिन्न स्थितियों एवं घटनाओं के लिए सिर्फ़ एक या कुछ इने-गिने सामान्य नियमों का पता लगाया जा सकता है। इसी प्रकार तमाम स्थिर-अस्थिर, चिर-परिवर्ती भौतिक स्थितियों अथवा रूपों का भी विश्लेषण कर-कर के किसी एक 'आरम्भिक सामान्य स्थिति' का पता लगा सकते हैं और हो सकता है कि जिसे आज 'आरम्भिक साधारण स्थिति' समझा जाता है, वही कल बहुत सी और भी अधिक आरम्भिक इकाइयों का एक जटिल संयोग निकले। प्राकृतिक नियमों और भौतिक सत्ता के बीच का कारणात्मक (काज़ल) सम्बन्ध वास्तव में अन्योन्य अर्थात पारस्परिक होता है। अत: इस विश्व अथवा ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया की कारणात्मक श्रृंखला के स्रोत का पता लगाने के लिए हमें विश्व या ब्रह्माण्ड से बाहर जाने--किसी पराभौतिक या अभौतिक मूल कारण ढूंढने—की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह विश्व किसी और प्रकार का हो सकता था या नहीं, इस प्रश्न का केवल क्षणिक अर्थ है और यह विश्व स्वय ही इसका उत्तर दे देता है, जो कि 'हाँ' में है। प्रत्येक क्षण में एक भिन्न ही विश्व होता है और एक ही क्षण में कई प्रकार के अर्थात कई विश्वों की विविधता तथा बहुलता रहती है। इन असंख्य, सम्भव ही नहीं बल्कि वास्तविक एवं यथार्थ, विश्वों में से

प्रत्येक के भाव, रूप, अस्तित्व (बींग) और संभवन, रूपान्तरण (बिकमिंग) का संचालन करने वाले प्राकृतिक नियमों की एक विशिष्ट व्यवस्था होती है। विवेकी या तर्कबुद्धिवादी ईश्वर-मीमांसा अथवा धर्मशास्त्र मानता है कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है; यह एक स्वचलित यांत्रिक क्रियाविधि है; ईश्वर का काम यह तय करना होता है कि असंख्य विश्वों में से किसे वास्तविक विश्व होना या बनना चाहिए। चूंकि विश्वों की विविधता तथा बहुलता निरी पराभौतिक या अभौतिक सम्भावना मात्र नहीं है, बल्कि देश-काल में स्थित वास्तविक या यथार्थ है, इसलिए इस चयन-कार्य के लिए भी ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है।

दर्शन की मुक्ति

सृष्टि की धारणा खत्म हो जाने पर दर्शन की एक सब से पुरानी समस्या—विश्व की उत्पत्ति अकस्मात हुई या आवश्यकतावश—भी खत्म हो जाती है। इस भौतिक विश्व के अनादि होने के कारण—जैसा कि विज्ञान सिद्ध करता है—उसके उद्‌गम अथवा आदि-स्रोत का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि यह प्रश्न, कि विश्व का आरम्भ कैसे हुआ, अप्रासंगिक है, तो यह पूछना कि यह क्यों है, और भी अधिक अप्रासंगिक है। विश्व है, क्योंकि वह नित्य और सनातन है। वास्तविकता तो यह है कि 'विश्व क्यों है?' का प्रश्न प्रत्यक्षत: निरर्थक और बेतुका है।

सफल दार्शनिक अनुसन्धान के लिए सबसे पहली शर्त यह होनी चाहिए कि प्रश्न बोधगम्य और उपयुक्त रूप में पेश किया जाय, अर्थात् 'विश्व ऐसा या इस प्रकार का क्यों है?' दर्शन इसका उत्तर वैज्ञानिक आधार पर ही दे सकता है। विश्व के भीतर की तमाम चीजें कैसे घटित होती हैं, इसका ज्ञान हमें इस योग्य बना देता है कि यह विश्व जैसा है, वैसा क्यों है, इसकी भी व्याख्या कर सकें। यही ज्ञान हमें नित्यता, सनातनता, अनन्तता, अमरता आदि पुरानी परम्परागत दार्शनिक धारणाओं को एक नये ढंग से नवी

रोशनी में देखने-समझने के योग्य बनाता है। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने इन आदरणीय धारणाओं के भीतर ठोस वास्तविकता भर दी है। हमें यह न भूलना चाहिए कि ईश्वर पर विश्वास करने की आवश्यकता को खत्म करने के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान उन धारणाओं को भी मानवीय बुद्धि तथा समझ का विषय बना देता है, जिन्हें परम्परा से किसी न किसी प्रकृति से परे की आध्यात्मिक सत्ता से जोड़ दिया जाता रहा है।

धर्म और संस्कृति

मानव-विकास के इतिहास में काफ़ी लम्बे समय तक संस्कृति (कल्चर) और धर्म (रिलीजन) में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यदि प्रकृतिपारीण (सुपर-नेचुरल) और मानवपारीण (सुपरह्यूमन) शक्ति पर विश्वास को हम धर्म की परिभाषा मान लें, तो हम बड़ी आसानी से यह सोच सकते हैं कि एक उन्नत तथा उच्च सांस्कृतिक अवस्था को क़ायम रखने और उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओं को पहुँचते रहने की योग्यता प्राप्त करने के लिए धर्म किस प्रकार अनावश्यक है। संस्कृति के विषय में सामान्य रूप से जो प्रचलित धारणा है, उसके अनुसार यह समझना बड़ा कठिन है कि बिना धर्म के भी संस्कृति सम्भव है। चूंकि काफ़ी लम्बे समय तक धर्म से सम्बद्ध रहने के कारण यह धारणा बनी है, इसलिए ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि संस्कृति और धर्म को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। अतः धर्म और संस्कृति के परस्पर सम्बन्ध पर सफल विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृति की एक सर्वमान्य परिभाषा कर ली जाय।

धर्म बनाम नैतिकता

लेकिन यहीं पर वैज्ञानिक इतिहासकार के सम्मुख एक पूर्वाग्रह (प्रेजुडिस) उठ खड़ा होता है। यहाँ 'पूर्वाग्रह' शब्द का प्रयोग किसी दूषित भावना से नहीं, वर्णनात्मक उद्देश्य से किया जा रहा है, इसमें कोई नैतिक मान्यता अथवा निर्णय की गतार्थता नहीं है। पूर्वाग्रह का मतलब यहाँ पर सिर्फ़ एक ऐसी परिकल्पना (हाईपोथीसिस) से है जो ऐसे प्रमाणों पर आधारित हो, जिनका या तो अब औचित्य अथवा प्रामाणिकता ही समाप्त हो चुकी हो या फिर जो न्यायसंगत नहीं रह गये हों, क्योंकि कुछ अन्य ऐसे प्रमाण-

-आधार मिल गये हों, जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक हो गया हो। यदि हमारी कोई पहले की धारणा अथवा प्रतिज्ञा या स्थापना ऐसी है जिसमें अब नये प्रमाणों के आधार पर संशोधन किया जा सकता है अथवा जिसका झूठापन दिखलाकर उसे पूर्णतया रद्द किया जा सकता है, तो वह पूर्वाग्रह एक वैज्ञानिक परिकल्पना की कोटि का होगा। लेकिन इसके विरुद्ध अक्सर होता यह है कि परिकल्पित धारणाएँ अथवा ग़लत स्थापनाएँ अपनी जड़ता तथा दृढ़ता के कारण ऐसे पूर्वाग्रह का रूप ले लेती हैं जो आगे चलकर अन्धविश्वास बन जाती हैं और इस रूप में उनका अन्त बड़ी मुश्किल से होता है। धर्म और संस्कृति के इतिहास तथा दोनों के परस्पर-सम्बन्ध की सार्थक जाँच करने से पहले हमें इस प्रकार के पूर्वाग्रहों अर्थात् जड़ परिकल्पनाओं से पिंड से छुड़ा लेना चाहिए।

यदि हम सस्कृति की यह परिभाषा करें कि मानव जाति को निम्न श्रेणी के पशुओं से भिन्न करने वाली संवेगात्मक शक्तियों, मानसिक प्रयासों तथा शारीरिक व्यवहारों के विकास को संस्कृति कहते हैं, तो हमारी कठिनाई हल हो जाती है। यदि इस परिभाषा को हम दूसरे शब्दों में कहें तो उसे आम तौर पर सभी को मान लेना चाहिए कि धर्म द्वारा निर्देशित उन सद्गुणों को ग्रहण करने को संस्कृति कहते हैं जिन्हें शिवत्व (गुडनेस) की एक अकेली धारणा के अन्तर्गत रखा जाता है। इस प्रकार ज्ञात होगा कि संस्कृति एक नैतिक धारणा है; सही-ग़लत, अच्छे-बुरे के बीच पहचान करने की क्षमता अथवा योग्यता है।

यदि इसी विश्लेषण-क्रम को हम कुछ और आगे बढ़ायं, तो हमारा असली विषय और अधिक स्पष्ट हो जायेगा। एक ओर संस्कृति का सार है नैतिक भाव और दूसरी ओर संस्कृति का स्रोत है धर्म। फलतः धर्म के बिना नैतिकता असम्भव है। इस प्रकार धर्म और संस्कृति का परस्पर सम्बन्ध धर्म और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध से बिल्कुल मिल जाता है। अब अगर यह मान लिया जाय कि केवल धार्मिक व्यक्ति ही नैतिक आचरण का हो सकता है, तो फिर इसका न्यायसंगत निष्कर्ष यह होगा कि संस्कृति और

धर्म के बीच एक अटूट सम्बन्ध है। यद्यपि इस निष्कर्ष को न्याय, दर्शन तथा मनोविज्ञान के तरीकों से ग़लत सिद्ध किया जा सकता है, फिर भी शायद धर्म के इतिहास को सामने करके अधिक संतोषजनक उत्तर दिया जा सकता है। चूंकि संस्कृति तथा नैतिकता दोनों का स्रोत एक ही बतलाया गया है, इसलिए उस स्रोत से ही आरम्भ करना उचित होगा। यहां पर फिर हमें धर्म की एक सर्वमान्य परिभाषा कर लेनी चाहिए। 'धर्म जीवन का एक तरीक़ा है,' यह कहना तो केवल पुनरुक्ति है, क्योंकि यह तो वही कहना हुआ कि धर्म संस्कृति है। यदि दोनों चीज़े एक ही और वही हैं तो फिर दोनों के परस्पर सम्बन्ध के कोई अर्थ ही नहीं रह जाते और हमारा बहस करना बेकार हो जाता है। इस परिभाषा का तो यह मतलब हुआ कि एक व्यक्ति प्रकृति-पारीण अथवा अलौकिक शक्ति पर विश्वास किये बिना भी धार्मिक हो सकता है।

भाषा तथा विचार

यदि धर्म को प्रकृतिपारीण सत्य और अतीन्द्रिय (सुपर-सेन्सुअल रियलिटी) मूलत्व के विश्वास से अलग किया जा सके, तो अवश्य ही उसका संस्कृति तथा नैतिकता से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार के मनमाने पृथक्करण के विरोध का एक गम्भीर कारण है। वह कारण हमें भाषा के इतिहास में मिलता है, जोकि मानवीय चिंतन के इतिहास के समानान्तर चलता है। अपने विचारों (प्रत्ययों—आइडियाज) को व्यक्त करने के साधन के रूप में ही मानव ने भाषा को जन्म दिया। हमारा प्रत्येक शब्द किसी न किसी विचार का प्रतीक होता है। किसी एक ही विचार अथवा प्रत्यय के विभिन्न रूपों अथवा भावों को व्यक्त करने के लिए अनेक शब्द गढ़ने का रिवाज तो बहुत बाद में अभी थोड़े ही समय से चालू हुआ है। धर्म या 'रिलीजन' या इसी तरह के भाव को प्रकट करने वाला किसी भी भाषा का पर्याय बहुत पुराना शब्द है। इसका एक विशेष अर्थ होता था। यह किसी ऐसी धारणा या विचार का प्रतीक नहीं हो सकता, जिसका उदय तथा विकास विचारों के इतिहास में आगे चलकर

बहुत दिन बाद हुआ हो। उस पुराने काल में ऐसी बहुत-सी धार्मिक क्रियाएँ तथा रीति-रिवाज प्रचलित थे, जिन्हें आगे चलकर भविष्य में उच्च, उन्नत तथा विकसित संस्कृति और नैतिकता में अत्यन्त निन्दनीय समझा जाने लगा था। विचारों तथा भाषा का इतिहास हमें ऐसी मनमानी परिभाषा करने की अनुमति नहीं देता कि धर्म एक सामान्य जीवन-दर्शन अथवा जीवन-शैली है और वह ईश्वर, प्रधान चालक, प्रधान नियामक, मूल नियंता या सर्वप्रथम (मूल) सिद्धांत अथवा सर्वप्रथम (मूल) कारण के रचयिता के विश्वास पर आधारित नही है। यदि ऐसा होता, तो धर्म की धारणा पर इतना ज़ोर देने की कोई आवश्यकता ही न पड़ती।

एक वैज्ञानिक परिकल्पना

धर्म का सार जब तक एक पूर्वाग्रह के रूप में जड़ नहीं हुआ था, तब तक उसका रूप वैसा ही था जैसा किसी भी वैज्ञानिक परिकल्पना का होता है। आधुनिक मानवशास्त्र की खोज सिद्ध करती है कि मानव-जीवन का मौलिक आग्रह किसी चीज पर एकदम विश्वास कर लेना नहीं, बल्कि उस पर शंका और प्रश्न करना है। दूसरे शब्दों में इसी को यूं कहा जा सकता है कि प्रारम्भ के मूल रूप में मनुष्य धार्मिक नहीं था। अतः मनुष्य के सांस्कृतिक तथा नैतिक जीवन का आधार धर्म नहीं हो सकता।

लेकिन इसके साथ-साथ यह भी एक ऐतिहासिक सत्य है कि धर्म का उद्भव भी मनुष्य की मौलिक जिज्ञासा-भावना—प्राकृतिक वातावरण के कारणों तथा गतिविधियों के विषय में अनेकानेक परिकल्पनाओं के सामान्यीकरण—के ही फलस्वरूप हुआ था। अतः मानव-चिन्तन के इतिहास और मानव के आध्यात्मिक विकास में धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह तमाम सांस्कृतिक तथा नैतिक विकास का कुल जोड़ या योगफल है। अन्यथा धर्म का इतिहास ही नहीं हो सकता था।

एक कट्टर पूर्वाग्रह

धर्म की उपर्युक्त उत्पत्ति समझ लेने पर यह मानना न्यायसंगत होगा कि जिस कारण से उसका जन्म हुआ था, उसके धीरे-धीरे खत्म होने के

साथ-साथ एक 'आध्यात्मिक' या बौद्धिक आवश्यकता के रूप में स्वयं धर्म भी खत्म होता जायेगा और लोग एपीक्यूरियन (या चार्वाकी सुखवादी) आदर्श के अनुसार सद्गुणी बनने के योग्य स्वयं हो जायेंगे— इसलिए नहीं कि उन्हें ऐसा बनना ही चाहिए, बल्कि इसलिए कि ऐसा बनने से सुख, आनन्द और संतोष मिलता है। इस प्रकार जब धर्म की कोई आध्यात्मिक या बौद्धिक आवश्यकता ही नहीं रह जाती और वह एक हठ, पूर्वाग्रह, मानसिक आदत अथवा मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के रूप में लड़खड़ाने लगता है, तब उसे ऐसी परिभाषाओं के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है जो न्याय या तर्क की दृष्टि से असंगत और इतिहास की दृष्टि से ग़लत होती हैं। लेकिन किसी हठ अथवा पूर्वाग्रह का इस प्रकार का न्यायाभास या तर्काभास (रेशनलाइज़ेशन) कड़ी जाँच और परीक्षात्मक आलोचना के सामने नहीं टिक सकता है। इस तर्काभास के द्वारा प्रकृतिपारीण पर विश्वास भले ही छोड़ दिया जाय, लेकिन संस्कृति का आधार और नैतिकता का स्रोत क्रमशः परम्परा और अन्तर्ज्ञान (इन्ट्यूशन) में ढूंढा जाता है। एक ओर परम्परा को किसी ऐसे मूल्य पर आधारित करके, जो उसे पुनीत तथा पावन बना दे और दूसरी ओर अन्तर्ज्ञान की ऐसी दुहाई देकर, जो कि एक शारीरिक या जैविक गुण को रहस्य बना दे, सत्य और वास्तविकता के किसी अतीन्द्रिय तथा अलौकिक स्रोत के प्रति कृत्रिम तथा छलपूर्ण विश्वास उत्पन्न किया जाता है।

स्वयं अपने गुणों के बल पर ईश्वर, रचयिता अथवा विश्व-चेतना आदि पर विश्वास के रूप में मानव-विकास के इतिहास में धर्म का एक स्थान है। यद्यपि मानव-जाति के इतिहास में इसकी एक सामयिक अथवा अल्पकालीन स्थिति थी, फिर भी इसका अंत अभी तक नहीं दिखलायी दे रहा है। अभी तक ऐसा एक भी सम्प्रदाय नहीं है, जो सामूहिक रूप से बौद्धिक विकास की ऐसी उच्च अवस्था को पहुंच गया हो, जहाँ के जीवन में धर्म को कोई स्थान प्राप्त न हो। और जब तक मनुष्य के मस्तिष्क में, मन में 'विश्वास करने' की जड़—चाहे अज्ञानवश, चाहे पूर्वाग्रहवश——जमी रहेगी,

तब तक कृत्रिम उपायों से भी इसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, जैसा कि रूस तथा अन्य कम्युनिस्ट देशों में किया गया। प्रकृतिपारीण पर से लड़खड़ाते हुए विश्वास को हटाने के लिए मानव-मन के भीतर के एक-एक कोने को भौतिक अर्थात् प्रकृति के ज्ञान से आलोकित करना पड़ेगा--यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि इसका उपक्रम बड़ा लम्बा होगा। पूर्वाग्रह अथवा मानसिक हठ बड़ी मुश्किल से हटते हैं--बड़े-बड़े विज्ञानियों तक में। लेकिन जो इने-गिने कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष हैं, जिन्हें अब तर्काभासित रूप में भी धर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है, वे उन उड़ते हुए तिनकों की तरह हैं, जिनसे हवा का रुख जाना जा सकता है।

प्राकृत धर्म की विशिष्टता

धर्म की वर्तमान तथा भावी स्थिति के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोण रखकर इतिहास का विद्यार्थी संस्कृति एवं धर्म के परस्पर सम्बन्ध पर मत निश्चित करने के लिए धर्म के अतीत का अध्ययन कर सकता है। धर्म का इतिहास दो प्रमुख भागों में विभाजित है—एक है प्राकृत या प्राकृतिक धर्म और दूसरा उद्घाटित या इलहामी अथवा दैवी धर्म। यद्यपि अभी कुछ ही समय पूर्व तक इक्के-दुक्के अपवादों को छोड़कर, इलहामी धर्मों का संस्कृति से काफ़ी घनिष्ट सम्बन्ध रहा है और इनकी संख्या भी बढ़कर एक विशिष्ट अल्पसंख्यक पक्ष का रूप ले चुकी है, जिसका समाज के सामान्य विकास पर काफ़ी प्रभाव पड़ सकता है और पड़ेगा। फिर भी संस्कृति का निकटतम ही नहीं, बल्कि तादात्म्य अथवा अभिन्नता का सम्बन्ध प्राकृत धर्म से रहा है। इसका कारण यह था कि प्राकृत धर्म सही अर्थ में धर्म होता ही नहीं। चूंकि धर्म प्रकृतिपारीण अर्थात् प्रकृति से परे पर आधारित होता है, इसलिए प्राकृत धर्म एक भ्रामक वाक्यांश है। प्राकृत धर्म न तो इस पर विश्वास करता था कि ईश्वर ने विश्व की रचना की है और न विश्व के आरम्भ या आदि के विषय में इसी प्रकार के किसी मत पर। प्राकृत धर्म तो स्वयं देवों की रचना करता था। प्राकृत धर्म ही तमाम काव्यों तथा कलाओं का

प्रेरक स्रोत था, जो कि संस्कृति के प्रकट अथवा व्यक्त रूप हैं। कला का उद्‌भव कल्पना से होता है, प्रकृति की नक़ल करने से नहीं। मनुष्य की कल्पना-शक्ति के द्वारा ही प्राकृत धर्म ने देवों की रचना की और फिर कल्पना के ही द्वारा प्रकृति के अनेकानेक शासकों के रूप में उन्हें सिंहासनारूढ़ कर दिया।

प्राकृत धर्म ने, जिसे वास्तव में आदिम प्रकृतिवाद कहा जाना चाहिए, सिर्फ़ कला की प्रेरणा ही नहीं दी, बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह मनुष्य की नैसर्गिक विवेकशीलता अथवा जन्मजात प्रज्ञा की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी थी। और इस अभिव्यक्ति का मूल मनुष्य की वह सहज-स्वाभाविक प्रवृत्ति थी जो उसे शारीरिक विकास से विरासत में मिली थी, जो सम्पूर्ण अतीत की थाती थी। इसका अभिप्राय था कि शून्य से किसी चीज की रचना नहीं हो सकती है। 'कुछ नहीं' से 'कुछ' नहीं बन सकता, 'कुछ' नहीं हो सकता—अर्थात् प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। मानव-जाति के आदिम पूर्वजों ने अपने अनुभवों के प्राकृतिक वातावरण के कारणों के प्रति जिज्ञासा-भाव से ही अपनी अनन्त आध्यात्मिक (बौद्धिक) प्रगति की मंज़िल पर चलना आरम्भ किया था।

विज्ञान का स्रोत भी यही है; उसका आरम्भ भी वस्तुओं, घटनाओं तथा स्थितियों के कारणों और गतिविधियों के नियमों की खोज-बीन से ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे आदिम तथा मौलिक पूर्वजों के प्रकृतिवाद से ही विज्ञान का भी आरम्भ हुआ था। जिज्ञासा, ज्ञान की उत्सुकता तथा खोज-बीन करने की भावना—जिसमें किसी पूर्ण अंतिमता या परम ज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं होना है और इसीलिए आस्था या निष्ठा अमान्य होती है—हमारी मौलिक मानवीय थाती है।

लेकिन हमारे इन पूर्वजों को, जो मूलतः विज्ञानी थे, आरम्भ-काल में ही कलाकार बन जाना पड़ा, क्योंकि उनकी उत्सुकता, जिज्ञासा तथा आदिम बुद्धिवाद के फलस्वरूप जो समस्याएँ उनके सम्मुख थीं, उन्हें हल करने के

लिए आवश्यक साधन या यन्त्र तो दूर रहे, मानसिक योग्यता से भी अभी वे वंचित थे। फलतः, जब वे प्राकृतिक वातावरण को पैदा करने वाले कारणों की खोज में सफल नहीं हो सके, तो स्वभावतः उन्हें कल्पना और चिंतन का सहारा लेना पड़ा और इनके द्वारा उन्होंने अपने अनुभवों तथा सीमित जानकारी के अनुसार देवी-देवताओं की कल्पना कर ली और अपने ही रूप के समान उनकी मूर्तियाँ गढ़ लीं। प्रकृति पर विजय पाने की मानवी आकांक्षा ने, जो अभी अव्यक्त थी, उसी के अनुसार मनुष्यों द्वारा निर्मित इन देवी-देवताओं को प्रकृति पर शासन करने का अधिकारी मान लिया।

प्रकृतिवाद और भारत

भारत में, ऐसा मालूम होता है कि संस्कृति का धर्म से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, क्योंकि जन-साधारण के धार्मिक जीवन में आज भी प्रकृति-पारीणवाद की अपेक्षा प्रकृतिवाद का कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में धर्म के इतिहास का सबसे प्रमुख लक्षण यह है कि मानवीय कल्पना द्वारा उत्पन्न तथा रचित देवी-देवताओं की पूजा-आराधना होने के कारण प्रकृतिवाद पर तथाकथित इलहामी अथवा दैवी धर्मों ने कभी भी पूरी विजय प्राप्त नहीं की। इसमें कोई शक नहीं कि यहाँ बहुत से ऋषि और अवतार हुए हैं, लेकिन ऋषियों की संख्या इतनी अधिक रही है कि कोई भी यह दावा नहीं कर सकता था कि दैवी अथवा ईश्वरीय सत्य सिर्फ उसी को प्राप्त हुआ है और जहाँ तक अवतारों का सम्बन्ध है, वे तो सदा मानवीय रूप में ही हुए।

इन कारणों से हम देखते हैं कि कुछ निश्चित या पक्के सिद्धांतों पर सामूहिक रूप से विश्वास करने के अर्थों में भारत में कभी भी धर्म की प्रधानता नहीं रही और आस्था-निष्ठा के आधार की इस कमजोरी के ही कारण मध्य-काल में जबकि मसीही (ईसाई) और इस्लाम धर्म अपने-अपने निश्चित एवं पक्के सिद्धांतों के बल पर मैदान में आ डटे, तो भारत में तर्काभास करने की आवश्यकता महसूस की गयी। फलतः यद्यपि समाज के उच्चवर्ग में धर्म का स्थान ईश्वर-मीमांसा अर्थात् धर्मशास्त्र ने ले लिया,

लेकिन अधिकतर जन-साधारण में अनुष्ठानी रूप ले लेने के बावजूद प्रकृति-वाद कभी भी एक संघटित धर्म की भाँति कठोर और कट्टर नहीं बन सका।

चूंकि भारत में सुसंघटित मठ-व्यवस्था के रूप में धर्म नहीं रहा, इसलिए काफ़ी सीमा तक धार्मिक स्वतन्त्रता रही है। और इस स्वतन्त्रता का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि जन-साधारण के जीवन में प्रकृतिवाद का प्रभाव आज तक बराबर बना हुआ है। वेदों के मौलिक प्राकृत धर्म पर तो अब कोई व्यवहार नहीं करता है; फिर भी आज की पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता के वातावरण में भूले हुए वैदिक धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों को फिर से जगाने और व्यवहार में लाने के लिए प्रचार तथा प्रयत्न किये जा रहे हैं। लेकिन कुछ पिछड़े हुए व्यापारी तथा पुरोहित वर्ग के सीमित सामाजिक क्षेत्र को छोड़कर उन प्रयत्नों का कोई व्यापक प्रभाव नहीं हो रहा है। ९० प्रतिशत लोग तो इतने ग़रीब हैं कि घी और अन्न अग्नि की भेंट कर ही नहीं सकते हैं और दूसरी ओर, जिनके पास धन और कुछ शिक्षा भी है, उन्हें इन चीज़ों को जलाना या लालची पुरोहितों को देना रुचिकर नहीं लगता। वैदिक प्राकृत धर्म के पतन के बाद जो ईश्वर-मीमांसा-सम्बन्धी चिंतन आरम्भ हुआ और बाद में जिसे हिन्दू धर्म कहा जाने लगा, वह केवल एक अभिजात वर्ग तक ही सीमित रहा। इसके मुक़ाबले में जन-साधारण में पौराणिक कहानियाँ, आख्यान और लोकगीत आदि एक नये धर्म के आधार-स्तम्भ बन गये। वेदों के बलिष्ठ तथा कठोर देवतागण महाकाव्यों और पुराणों में फिर से दिखलायी देने लगे। लेकिन अब उनकी संख्या भी काफ़ी लम्बी चौड़ी थी और रंग-रूप में भी वे काफ़ी रोचक और आकर्षक थे। महाकाव्यों के नायक और नायिकाओं की भाँति पुराणों के देवी-देवताओं की रचना भी आदिम असंस्कृत लोगों ने भयभीत होकर नहीं की थी, बल्कि उनकी उत्पत्ति कलाकारों की कल्पना-शक्ति मे हुई थी। साधारण जनता के लोकप्रिय सार्वजनिक धर्म में अब भी प्रकृतिवाद का काफ़ी अंश था और इस प्रकार उसने संस्कृति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण रिक्त स्थान की पूर्ति की।

भारतीय संस्कृति और धर्म

मध्यकालीन सामाजिक विघटन और तत्सम्बन्धी संस्कृति के पतन के कारण ब्राह्मणों के परम्परागत बुद्धिजीवी अभिजात वर्ग ने आधुनिक काल में अपनी पुरानी शान तथा मर्यादा खो दी। मध्यकाल के अंत में तत्कालीन अज्ञानता के वातावरण में पुराणों के धर्म का भी पतन हो गया और अनेक प्रकार के गन्दे तथा अरुचिकर पंथ अथवा सम्प्रदाय बनने लगे। इसके साथ-साथ देश के विभिन्न भागों में ऐसे बहुत-से धार्मिक सुधारक हुए जिनका भक्तिवाद काफ़ी व्यापक, लोकप्रिय तथा आकर्षक था। अन्त में आधुनिक काल में ब्राह्मणों का स्थान लेने वाले नये बौद्धिक अभिजात वर्ग ने हिन्दुओं के धर्म के रूप में गीता तथा वेदांत के ईश्वर-मीमांसा-सम्बन्धी चितन के उपदेशात्मक अंशों को पुनर्जीवित किया; महाकाव्य के अतिव्यापक प्रसग से अलग करके अब गीता को हिन्दू धर्म का वेद अर्थात् दैवी ग्रंथ माना जाने लगा! लेकिन वास्तविकता यह है कि जन-साधारण में महाभारत की कथाएँ ही अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय जनता की रग-रग में अब भी प्रकृतिवादी संस्कृति बसी हुई है और प्रकृति-पारीणवाद अथवा रहस्यवाद का प्रभाव केवल ऊपर-ऊपर ही है।

जहाँ तक जन-साधारण का सम्बन्ध है, उनके पैर आज भी धरती में जमे हुए हैं। वे आज भी लोकप्रिय, संस्कृतिविहीन तथा तर्काभासित प्रकृति-पारीणवाद के कृत्रिम वातावरण की अपेक्षा माँ-प्रकृति की गोद में अधिक सुख तथा संतोष अनुभव करते हैं। तोते की भाँति लोग परमात्मा का नाम भले ही रटा करें, लेकिन यह मात्र आदत है, इससे अधिक कुछ नहीं। ऐसे देवी-देवता या भगवान से उन्हें कोई लाभ नहीं, कोई सरोकार नहीं, जो मानवीय अर्थात् इन्द्रिय-जन्य अनुभवों से परे हो, उनका सीमोल्लंघन करता हो। उनका देवता मानवतारोपी, मानव-सम्वादी (ऐन्थ्रोपोमॉर्फ़िक) होता है, मानवतुल्य होता है और प्रकृति के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वात्मवादी, सर्वसजीववादी (ऐनिमिस्टिक) होता है। मानवतारोप (ऐन्थ्रोपोमार्फ़िज्म) और सर्वसजीववाद (एनिमिज्म) भारतीय जनता की प्रकृतिवादी आस्था-

निष्ठा के उद्भव तथा विकास के दो मुख्य आधार-स्तम्भ हैं। इस जीवन्त निष्ठा के उद्भव तथा विकास का श्रेय उन कवियों को है, जिन्होंने महाकाव्य रचे थे और उन कलाकारों को है जिन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ऐसे असंख्य वैभवशाली देवी-देवताओं की रचना की जिनमें मानव-तुल्य सद्गुण-दुर्गुण दोनों थे, जो मानवीय अनुभवों के संवेगों से प्रभावित होते थे, जो तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ मानवीय आकांक्षाओं की प्रतिमूर्ति थे।

पूजा करने के लिए, बल्कि इससे भी अधिक सार्वजनिक, धार्मिक त्योहारों में देखने योग्य सुन्दर से सुन्दर प्रदर्शनीय मूर्तियों की रचना ही तो मानवतारोप या मानव-सम्वाद की कलात्मक अभिव्यक्ति अथवा प्रत्यक्षीकरण थी। ये मूर्तियां 'प्रकृति से परे पर विश्वास' की अपेक्षा भक्त की सौन्दर्य भावना को कहीं अधिक जागृत तथा प्रभावित करती हैं। इन देवी-देवताओं की शक्ति तथा सत्ता के विषय में मानवीय कल्पना ने जादू का-सा प्रभाव डाल कर जो सर्वसजीववादी पूर्वाग्रह उत्पन्न किया था, वही तो इनकी पूजा--आराधना करने के मनोवेग का स्रोत है।

दुर्गा पूजा

भारत के जन-साधारण में प्रचलित सामन्य लोकप्रिय धर्म के इन विशेष लक्षणों की सर्वाधिक प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति हमें दुर्गा-पूजा में दिखायी देती है। तमाम जनता--निम्न से निम्न और उच्च से उच्च—इस समारोह में भाग लेती है, जोकि एक धार्मिक अनुष्ठान से कहीं अधिक एक सार्वजनिक लोकप्रिय त्योहार है। दुर्भाग्य की बात है कि अब कुछ समय से इस लोकप्रिय त्योहार का वैभव कम होता जा रहा है। लेकिन फिर भी किसी अन्य आकर्षण की अपेक्षा यह त्योहार लोगों की भावनाओं तथा संवेगों को सर्वाधिक उत्तेजित कर देता है। स्पष्टतः, यहां पर हमें उस घनिष्ट सम्बन्ध का जीता-जागता उदाहरण मिलता है, जो एक जनवादी या जनतांत्रिक संस्कृति या मानवतारोपी एवं सर्वसजीववादी विश्वास के बीच होता है। यहां पर प्रकृतिपारीणतावाद के ऊपर प्रकृतिवाद पूरी तरह से हावी है। बड़े-बड़े देवता असुरों के विरुद्ध अपने स्वर्गस्थ प्रासादों की रक्षा करने में

असमर्थ हैं और मां-प्रकृति की ब्रह्माण्डीय ऊर्जा या ऊर्जस्विता अर्थात विश्व-शक्ति (कॉस्मिक एनर्जी) की स्तुति करते हैं, उसका आह्वान करते हैं। मां-प्रकृति की इसी ऊर्जस्विता को मानव की कलात्मक प्रतिभा ने देवी दुर्गा के रूप में चित्रित किया है।

आधुनिक विज्ञान ने प्रयोगों से यह खोज निकाला है कि इस भौतिक जगत में ऊर्जा अर्थात शक्ति का अनन्त तथा अथाह भंडार है। पदार्थ, पुद्गल, भूत अर्थात द्रव्य (मैटर) और ऊर्जा की परस्पर अभिन्नता से संबंधित, विज्ञान के सैद्धांतिक ज्ञान की परिकल्पना उस अज्ञात कलाकार ने की थी, जिसने ब्रह्माण्डीय ऊर्जस्विता की धारणा को एक ठोस और साकार रूप दिया था। और एक मानवतारोपी एवं सर्वसजीववादी विश्वास को कलात्मक रूप देने का सबसे बड़ा सांस्कृतिक महत्व यह है कि इन रूपों की रचना कुछ ऐसे इने-गिने व्यक्तियों ने नहीं की थी, जो किसी असाधारण अनिर्वचनीय शत-प्रति-शत निजी, व्यक्तिगत अनुभवों अथवा अनुभूतियों का दावा करें। इनकी रचना में तो सम्पूर्ण समाज भाग लेता था। यही कारण है कि प्राकृत धर्म के विषयों, पात्रों तथा रूपों के रचयिता सदा अज्ञात और अनामी रहे। अपने विश्वासों और आकांक्षाओं को व्यक्त करने के लिए कलात्मक रचना के कार्य में पूरा समाज सहयोग करे—यह चीज़ काफ़ी विकसित तथा उन्नत सांस्कृतिक अवस्था में ही सम्भव है और चूंकि प्राकृत धर्म के त्योहार तथा समारोह सार्वजनिक अथवा सार्वजनीन संस्कृति के ही विभिन्न रूप हैं, इसीलिए अपनी सामान्य थाती, अपने सामान्य पैतृक अधिकार का आनन्द भोगने के लिए सम्पूर्ण समाज उनमें भाग लेता है।

प्राकृत धर्म की इस मानवतारोपी तथा सर्वसजीववादी आस्था-निष्ठा का भी एक न एक दिन अन्त होगा। इसका अन्त तब होगा, जब विज्ञान का उद्बोधक प्रकाश मानव-मस्तिष्क के भीतर के एक-एक कोने को आलोकित कर देगा और ऐसे नये अनुभव उसकी पूरी गहराई तक पहुंच कर पुराने पूर्वाग्रहों की जड़ों पर प्रहार करेंगे। लेकिन उस आस्था-निष्ठा तथा विश्वास के अभिव्यक्त तथा संघटित रूप तब भी सांस्कृतिक थाती के रूप में बने

रहेंगे, ताकि एक नवीनतर तथा उच्चतर संस्कृति विकसित हो सके। मानवतारोपी तथा सर्वसजीववादी प्राकृत धर्म, बौद्धिक संस्कृति के अनेकानेक रूपों में सौन्दर्य-वृद्धि करने के लिए दीपावली, होली और दुर्गा-पूजा आदि सार्वजनिक तथा लोकप्रिय त्योहारों के रूप में जीवित रहेगा।

गीता के प्रभाव में आकर संस्कृति तथा इतिहास के विद्यार्थियों को चण्डी-पाठ न भूल जाना चाहिए, जिसमें मानव-कल्पना के आह्वान पर विश्व-शक्ति या ब्रह्माण्डीय ऊर्जस्विता (कॉस्मिक एनर्जी) के रणतुल्य प्रति-रूपण द्वारा स्वर्ग और देवताओं को मुक्त कराने का बड़ी ओजस्वी वीरगाथा शैली में वर्णन किया गया है--मानव की जननी (माँ प्रकृति) दुखी तथा पीड़ित देवों को मुक्त कराती है। यदि मनुष्य इस माँ-प्रकृति की शक्तियों का आह्वान करता गया, एक-एक करके उन सबको खुल कर खेलने के लिए निमन्त्रित करता गया, उन पर भरोसा करता रहा, तो एक दिन माँ-प्रकृति अपनी सन्तान--मानव--को भी प्रकृतिपारीणता अर्थात् प्रकृति से परे के पूर्वाग्रहों से अवश्य ही मुक्त करायेगी।

यह तो घर है प्रेम का

विरहांञ्जलि गद्य-गीत

आत्मानन्द परमहंस

मूल्य एक रुपया मात्र।

यह तो घर है प्रेम का

विरहांञ्जलि गद्य-गीत

प्रथम संस्करण २०००

पुस्तक मिलने का पता :-

स्वामी आत्मानन्द परमहंस

प्रेम नगर आश्रम

पो० बरौली

जि० गोपालगंज (बिहार)

आधुनिक प्रेस, सीवान १९७५।

परमपूज्य गुरुदेव के स्वरचित विरह-गीतों का संग्रह।

यह तो घर है प्रेम का

विरहांञ्जलि गद्य-गीत

विरह गीत न० १

जहाँ अमृत का सागर लहराता है,

जहाँ मृत्यु की छाया तक नहीं पड़ती है

तू उसी रंग-स्थली में मेरे संग महारास रचता है

जिस आनन्द की तूने वर्षा की है

उसका कहीं अन्त नहीं है

शिव ने विष तो पचा लिया किन्तु इस अमृत की एक बूंद ही मरने के लिए कम नहीं है।

प्यारे मैं तुमपर पहले से ही मुग्ध थी

फिरभी तूने मुझे आकर्षित करने के लिए

जगत-परिवेश क्यों धारण किया ?

तेरा विरह ही मेरा जीवन है।

तू तो जानताही है कि मुझे जीने की और कोई कामना नहीं है। तेरे विरह गीतों से मैं भूतल को प्रकम्पित कर दूं-आकाश का हृदय फट जाय, सागर स्तम्भित हो जाय और मैं तेरे अमृत गीतों की रसानुभूति के अलौकिक रसानन्द में

चिर मूर्छित हो जाऊँ। बस इतना ही।

जल थल नभ में मैं तेरे संग फिरता रहा।

तू मेरी वाणी से बोल उठता है, मेरे पाँवों से तू चल पड़ता है और तू मेरी आँखों से देखने लगता है। नियमों के सारे बन्धन ढीले पड़ गये। संसार झाँक झाँक कर देखता रहा और तूने मुझको आलिंगन-पाशों में बाँध लिया।

तेरा प्रेम बहुत ही रसीला है
तेरी छाया निराली है
तेरा आकर्षण अमोघ है

तूने मुझे वरण करते ही अपने कटाक्षों से घायल कर दिया। मैं बेहोश हो गयी और अपने पहले आवरण की मुझे विस्मृति हो गई।

यह मेरा दूसरा जन्म है; किन्तु तुमने इसे सबकी आँखों से छिपा लिया है।

विरह गीत न० २

कभी मेरे बाहर से कभी मेरे भीतर से तू झाँकता है मैंने तुम्हें पर्वतों पर खुले आकाश में विहार करते देखा है।

पहलीबार, जब कि राष्ट्रीय ध्वजाएं फहरायी जा रही थीं। मैंने ध्वजा के ऊपर गगनचारी रूप में तुम्हें प्रकट देखा था। तबसे आजतक तू मेरी नजरों से तनिक भी ओझल नहीं हुआ।

सारी छटाओं में तुम्हारा रूप चमत्कृत हो उठता है। खुले आकाश में मणियों के गुच्छों की तरह तू बिखर जाता है। कभी हृदयाकाश की ओट में तू चक्रवत् प्रकट दीखता है। वायुयान से जाते समय मैंने तुम्हें अपने संगही कुछ दूर बाहर खुले आकाश में जाते गतिमान देखा।

निर्मल तथा स्वच्छ स्थानों में, गंदी तथा सड़ी गली जगहों में, अपने भीतर तथा बाहर मैंने तुम्हें एकसा देखा है। जगत् की कोई भी प्रतिक्रिया तुम्हारे ऊपर नहीं होती।

मैंने अपनी सहेलियों को तुम्हें दिखलाना चाहा। किन्तु कुछ एक को ही तू दीख पड़ा। फोटो-कैमरे से मैंने तुम्हारी तस्वीर लेनी चाही किन्तु तेरे चित्र की साया भी कैमरे में नहीं आई। प्यारे ! तू बड़ाही अनोखा है।

भिनभिनाती हुई मधुमक्खियों के बीच में तू खड़ा था। किसी भी अवस्था में तू मेरे संग रहता है। सभी ध्वजाओं के ऊपर तेरी ध्वजा फहराती है। सभी शिखरों पर तेरा चरण चिन्ह नजर आता है।

विरह गीत न० ३

कुछ दिनों से अनवरत मेरे कंठों में एकही स्वर था

जाने जिगर पहचाने मगर,

ये कौन जो दिलमें भाया–

मेरा अंग अंग मुसकाया……

और क्रीड़ा-स्थली से लौटते समय, संध्या वेला में

तू उन्हीं स्वरों को स्पष्ट और भी उच्च स्वर में दुहरा रहा था।

मैं अवाक् रह गई। माधुर्य से मुखरित तेरा स्वर और भी भी स्पष्ट होता चला जा रहा था। ट्रेनों में, बाजारों में एवं एकान्त पगडंडियों पर चलते समय मैंने उन्हीं पंक्तियों को उच्च एवं माधुर्य मंडित-स्वर में तुम्हें गाते हुए सुना। यह वही स्वर था जिसे सुनकर चैतन्य पागल बन गया था। मेरी बाल्यावस्था में ही तेरे स्वरों ने मेरी सुधि छीन ली।

बात और भी तब बन गई जब एक दिन तू मेरा-सा ही आकृति धारण कर मेरे विस्तर पर मुझसे एक हाथ ऊपर ही लेटा हुआ था। और मैंने पूछा-तू कौन है ? और, तूने तुरन्त उत्तर दिया-तू कौन है ? प्यारे ! तेरे और मेरे बीच इस प्रेमालाप को या तो तू ही जानता है या मैं ही जानती हूँ। उस समय मुझे न तो किसी शास्त्र का कोई ज्ञान था और न किसी धर्म का बोध था; किन्तु तेरे प्रेम का सागर लहरा रहा था और उसकी उत्ताल तरंगों के बीच संसार की सारी शक्ति क्षीण हो गई थी।

विरह गीत न० ४

तेरे कलवेणु के निनाद से मैं मातंगी मदहोश बन गयी। रसानुभूति से घायल मन विह्वल हो उठा। जब मैं अपने को सम्भाल नहीं सकी तो मैंने चारो ओर दृष्टिपात

किया। अग जग कलवेणु के निदान से एकाकार हो रहा था, पंछी चहचहाना भूल गये। गैयों ने रम्भाना छोड़ दिया, नदी और झरनों की गति रुक गई। सारे ब्रम्हान्ड की सारी क्रियाएं ऐसे शान्त हो गई जैसे कभी कुछ हुआही नहीं था।

प्यारे तेरे संगीत्त के माधुर्य ने मेरे मन को मोहित कर लिया है। मैं सहज समाधि में स्थित हो गई। किन्तु मुझे ज्ञात हुआ कि समाधि को भी समाधि लग गई है।

मेरी सहेलियों ने मुझे छेड़कर जगाना चाहा किन्तु मेरी अलसायी पलकों की खुमारी नहीं गई और उनके प्रयत्न के बाद भी मुझे होश नहीं आया। अपने पराये का ज्ञान जाता रहा।

मेरे प्यारे तूने मुझे मस्त बनाकर सदा के लिये बेहोश कर दिया है। मेरी सखिया मुझसे बड़ी-बड़ी आशाएं रखती हैं; किन्तु उन्हें क्या पता कि मुझे कुछ भी होश नहीं है।

विरह गीत न० ५

तू मेरी छोट छोटी कामनाओं को भी तत्काल पूर्ण करता है और छोटी छोटी घटनाओं की भी पूर्ण सूचना दे देता है।

प्यारे! तुमने मुझे जी भर कर दुलारा है। मेरे होठों को तू बार बार चूम लेता है तथा मुझे बार बार ह्रदय से लगा लेता है। मेरी ग्रीवा को तुमने चूम लिया, मेरी पीठ

और मुख पर तथा मेरी भौहों पर अपने कोमल करों का स्पर्श किया तथा मेरे गले और आँखों को बार बार चूम लिया।

प्रेमालिंगन करते करते तू मेरी ओर विचित्रता भरी दृष्टि से देख रहा था कि हम दोनों के नेत्र आपस में मिल गये और तू एकाएक मुझमें प्रवेश कर गया।

तबसे जब मैं बोलती हूँ, ज्ञात होता है कि तुम्हीं बोलते हो। जब चलती हूँ तो ज्ञात होता है कि तुम्हीं चलते हो।

तुमने मेरे हृदय को अपना सिंहासन बना लिया है और मेरा एक अंग सत्य का तथा दूसरा त्याग का बन गया है। मेरे पाँव अनन्त गति से तेरी महिमा के विस्तार को माप रहे हैं।

जहाँ चिर शान्ति का सागर लहरा रहा है, जहाँ मादकता स्वयं मदान्ध हो मुग्ध बैठी है, जहाँ रस की गंगा बहती है उसी धारा में मैं बह रही हूँ।

यदि मैं हिलती हूँ तो सारा ब्रम्हाण्ड हिल उठता है और बोलती हूँ तो सारा ब्रम्हाण्ड बोल पड़ता है।

विरह गीत न० ६

चीर सागर आनन्द का सागर है

जब मेरी सारी कामनाएं शान्त हो गईं, जब मैंने जीवन-मरण को समान रूप से वरण किया, तब चीरसागर का फाटक खुला हुआ था। सारे पहरूये सोये हुए थे। और,

तेरी बुलाहट की आवाज कर्ण-रन्ध्रों को चीर रही थी।

आत्म-विस्मृति की पावन वेला में तेरा जगत-परिवेश अन्तर्ध्यान हो चुका था। धरती, पवन, पानी को कौन कहे- अपनी इन्द्रियां अपने मन और अपने शरीर तक का पता नहीं था। आकाश भी लुप्त हो गया था। समस्त लोक शून्य में विलीन हो गये थे।

जब मैं तेरे रंग-महल में थी तो अकेले मैं ही ब्रम्हान्ड बनी हुई थी और मेरा रूप ज्ञान का था और उसी में सारा ब्रम्हाण्ड लीन हो गया था। आश्चर्य है। परम वैचित्र्य है।

तेरे महल में प्रवेश करते ही मैंने सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड की जगह केवल अपने आपको देखा।

प्यारे ! इस महामिलन के सुख का मैं वर्णन नहीं कर सकती। महानन्द का लहा प्रलय। केवल आनन्दही आनन्द। केवल प्रेमही प्रेम।

मेरे और तेरे बीच के सारे पर्दे उठ गये। विरोधों का अन्त हो गया। अब मैं वही हूँ जो तू है। गंध और पुष्प नदी और सागर और चन्द्रिका और चांद का मिलन। पहलीबार मैंने अपने में तुमको और तुममें अपने को देखा। वहाँ स्वगत ही सारी क्रियाएं हुईं।

विरह गीत न० ७

दूज के चाँद में मैंने तेरे गले की गुलाई को देखा जब मेरे छज्जे पर गोरैया अठखेलियां करतीं, गिलहरियां जब किलकारियां भरती हैं तब मैं तेरी छटा को अपलक निहारा करती हूँ।

जब आम्र मजरित हो जाते हैं, चम्पा की कलियां खिल जाती हैं, माधुर्य की वेला में जब वसन्त आ जाता है, पारिजात पुष्प मकरन्द-मंडित हो जाते हैं, नव किसलय से लदे पादप गुरुजनृत्य लीन होने लगते हैं और पलाश, टेसू, मदार तथा मदनों के फूल प्रस्फुटित हो जाते हैं, जब आकाश में तीन चार इन्द्र धनुष सज जाते हैं तब मैं तेरे विरह वाणों से घायल हो जाती हूँ।

गहरी रात में जब झीलें चन्द्र ज्योत्स्ना से रस-स्नात हो जाती हैं, मछुवे जब मछलियों की टोह में लग जाते हैं, जब हरीमिता के वक्षःस्थल पर लोट पोट कर शंख-नाद करता हुआ मनोज आता है तब मैं विरहाञ्जलियां तेरे पावन चरणों पर बिखेर देती हूँ।

प्यारे! तेरी लिलाएँ बड़ी ही लुभावनी हैं। तेरी अठखेलियों में मेरे प्राण बींध गये हैं। तेरे सौन्दर्य से मन-पूरित हो गया है। मेरी सारी इन्द्रियां छक गई हैं; न जाने मैं कहां खो गई हूँ।

विरह गीत न० ८

मेरे अनेक जन्मों की गोपनीयता को तूने समाप्त कर दिया और विभिन्न मानसिक, आर्थिक, सामाजिक एवं शारीरिक स्थितियों में मेरे अनेक जन्मों के रहस्य मेरे समक्ष प्रकट होने लगे। समस्त ऋषियों तथा समस्त देवताओं का रूप धारण कर कभी जाग्रत में तथा कभी स्वप्न में तू मुझे दीखने लगना।

वह आकाश जो मीलों में फैले लाल रंग के विशाल कमल पुष्प से शोभित था। अनेक स्वर्गों के दृश्य भी दीख पड़ते।

महारास के दृश्य स्पष्ट दीख पड़ते तथा मैंने अनन्त कोटि सिद्धों को भी ज्ञान का उपदेश देते हुए स्वयं अपने आप को देखा। कभी असंख्य देवता मेरी आरती स्तुति करते तथा शंख, बृजघन्ट एवं तुरही बजाकर आकाश को गुंजरित करते अनेकों महासर्प तेरे समक्ष नृत्य करते दीख पड़ते।

मेरी काया क्षीण हो गई थी और केवल पंजर मात्र रह गया था; किन्तु मेरा प्रेम पूर्ण यौवन पर था और तेरी लीलाएँ निरन्तर स्वरूप बदल बदल कर प्रकट होती रहती थीं।

विरह गीत न० ६

मेरे लिए जटिलताओं को त्याग कर तू सरल बन गया।
समस्त विचारों को त्याग कर निर्विचार बन गया।
तथा फलाशक्ति का त्याग कर निर्लिप्त का कवच धारण कर तू नित्य मुक्त बन गया।

प्यारे! तू सर्वत्र बँधा-सा दीखते हुए भी निर्वन्ध है। तुझमें वन्धन का लेश भी नहीं है।

तुम्हें पाकर कुछ भी पाने की इच्छा जाती रही।
आनन्द को भी आनन्द मिल गया।
शान्ति भी शान्त हो गई और
ज्ञान को भी ज्ञान हो गया।

मैंने तेरे चरणों में आँसुओं का हार अर्पित किया है और तेरे वक्षःस्थल पर अपना मत्था टेक दिया है।

मेरी आँखें तेरी आँखों से मिल गईं। कंठ से कंठ मिल गये! होठ से होठ मिल गये और मेरे प्राण तेरे प्राणों से मिल गये। मेरे सारे अंग तेरे अंगों से मिल गये।

माधुर्य का सागर उमड़ गया, रस की गगरी फूट गई। तू कितना मादक है; कितना रसीला है मन मोहन! तेरी मातंगी चल चितवन की चोट बड़ी घातक है।

जब ज्ञान और कर्म शून्य में खो जाते हैं तब तेरे पायल की रूनझुन सुनायी पड़ती है।

मेरे बाल मन में तू स्वप्न-सा आया,
बिजली-सी कौंध कर चला गया।

ऐ मेरे जादूगर ! यह तेरा अनन्त परिधान !! यह तेरी विशाल कारीगरी !!! तेरी कला अनोखी है।

यह अनादि क्रीड़ा ! अनन्त गतिमान शक्ति पिंड ! उठते बवन्डर ! चलती पुरवैया ! फुंकारते तूफान ! टूटते उल्का पिंड ! नीले आकाश में असंख्य निहारिकायें ! अच्छा-सा पिटारा खोल रखा है ! तेरे तेजोमय भाल पर चाँद और सूर्य के ये तिलक !! काश, इस चित्रपट पर किसी की आंखे ठहर पाती !!!

विरह गीत न० १०

तेरी याद में मैं बेहोश होकर गिर पड़ी और होश आने पर एक घूँट जल भी मेरे से नहीं लिया जा सका। आठ रात्रि मैं लगातार जगी रही और मुझे तनिक भी नींद नहीं आई। किन्तु मेरा स्वास्थ्य ठीक था और मुख मण्डल तेरी ज्योति पुञ्ज से देदीप्यमान हो उठा था। उस समय आगन्तुकों की आँखे मेरे चेहरे पर नहीं ठहर पाती थीं। और मैंने अपनी आँखों से ही ज्योति-पुञ्ज अपने शरीर से निकलते स्वयं देखा था और इसकी गोपनीयता की प्रार्थना मैंने तुमसे की थी। जो ज्ञात है और जो अज्ञात है वह तू ही है।

प्यारे ! तुमने अपनी प्रगाढ़ प्रीति मुझ पर निछावर की है। तुमने मुझे दुलारा है और मेरे मृतप्राय: शरीर को अमृत से सींच कर हरा किया है।

जब तेरी विशाल ज्योति मेरे नेत्रों से प्रकट बाहर निकल रही थी तो मैंने तुमसे पुनः आग्रह किया था। "होश में रहने दो, मुझे बेहोश मत होने दे" मैं रास्ते चलते लड़खड़ा कर गिर पड़ती। मेरा सारा शरीर कम्पायमान हो जाता और मेरी आंखे सदैव ऊपर चढ़ जाती थीं। मैंने तुम्हें आकार में तथा विचार में प्रकट देखा। अब मुझमें जीव मात्र को सताने की क्षमता नहीं रही और मेरा हृदय कोमलता का कोष बन गया।

विरह गीत न० ११

विना सम्मान के रह लूंगी। विना धन वैभव के रह लूंगी। विना वस्त्र के रह लूंगी। जगत् की किसी भी वस्तु के विना रह लूंगी। किन्तु तेरे स्नेह के विना कैसे रहूँगी। यह मैं नही जानती।

तू वर्तमान बनकर सदा मेरे संग रहता है। मैंने यह जीवन पुष्प तुम्हारें लिए खिलाया है। कर्मो का हार तेरे चरणों पर न्योछावर है। खुशियों के गुच्छों के गुलदस्ते भी तेरे लिये।

मेरे लिये दुःखों का कण्ठहार।

मेरा जीवन तेरे चरणों पर अश्रुओंकी धार। तेरा विरह जीता है। यदि इसके बाद भी कुछ मेरे में जीवित है तो जीना ही मेरी कठोरता है। जब प्रकाश-स्तम्भ से ज्योति-कलश की विरहाञ्जलि मैंने भेंट करने को ठानी है।

तू विचलित-सा दीखता है विरह की अनन्त धाराएँ अपना मार्ग आप ढूंढ लेंगी। पर्वतों को रौंदते हुए। धरती को कुंदते हुए उन्हें सागर में मिलना है।

जहां सदा बहार, सदा गुलजार और प्यार ही प्यार है। माधुर्य की बेला में माधवी लता लहरायी। पुष्प मकरन्द मंडित हो उठे। मन मयूर सहस्त्र विस्तृत डैने फैलाकर तेरे समक्ष सर्वस्व समर्पण कर उठा।

विरह गीत न० १२

आदि अन्त और मध्य में तू ही तू है। एक मात्र सारे ब्रम्हाण्ड में तू ही प्रकट् है और सब कुछ पर तेरा ही आवरण है। तू दिगम्बर सदाही आवरणहीन है। एक एक मिलकर तू दो बन जाता है और दो बनने पर भी एक ही एक रहता है और दो के बिगड़ जाने अथवा मिट जाने पर भी तू एक एक बनकर बचा रहता है। कर्म न तो तुम्हें स्पर्श कर पाते और न तुम में कोई कर्म उत्पन्न ही कर पाते हैं।

कोटि प्रलय भी तेरी गोद में ही खेलते हैं, उत्पति स्थिति और प्रलय मात्र तेरा स्वरूपान्तर ही है। तूने सारे ब्रम्हाण्ड को ढँक लिया है। अतः तुम्हें ढँकने की क्षमता किसी में भी नहीं है तूने सारे ब्रम्हाण्ड को बाँध लिया है, अतः तुम्हें बाँधने की क्षमता किसी में भी नहीं है। देश और काल को तुमने ही जन्म दिया है, अतः तुम्हें उत्पन्न करने की क्षमता किसी में भी नहीं है। कोटि कोटि ब्रम्हाण्ड

एक साथ ही तेरी परिक्रमा करते और करोड़ों सूर्य तुम्हें आरती दिखलाते हैं। तू सत्य है, शाश्वत है, और अनन्त है। प्यारे! तू पूर्ण है, अतः कोई तुम्हें आँक नहीं सकता।

विरह गीत न० १३

रोमांचकारी दृश्य भी तेरे संग ही सुहावने लगते हैं। जब तू मुझसे दूर रहता है तब मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मेरा खाना पीना और पहनना सब कुछ तेरे लिए है। तबतक सारे अलंकार भार-स्वरूप लगते हैं, जबतक तेरी मुस्कुराहट की छटा नहीं दीख पड़ती।

हे! मयूर तू नृत्य न कर। पपीहा तू न बोल। पवन तू न डोल, कमल तू अपनी पंखुड़ियाँ न खोल क्योंकि मेरा मन-मोहन अभी मुझसे दूर है।

योग और भोग के तटों के बीच तेरी अजस्र धारायें बहती हैं।

गुदड़ियों में लिपटी हुई मैं तेरी तड़प में व्याकुल थी। आधी रात गये श्मशान के बीच पीपल वृक्ष के निकट मैं तेरी प्रतीक्षा करती। मेरे इष्ट मित्र और परिवार के व्यक्ति मुझे इसलिये नहीं अच्छे लगते थे कि वे तुम्हारी धारावत् स्मृति में बाधाएँ उपस्थित करते थे।

मेरे प्यारे! तेरे कठिन स्नेह ने मुझे पागल बना दिया है।

विरह गीत न० १४

जब मेरा हृदय भग्न हो गया। जगत की समस्त तृणलताएँ और कण-कण मेरे सारे अस्तित्व को तेरी विरह-भंगिमाओं की ओर खींचने लगी। पल पल में रोमांच और अश्रु धाराओं का विकल प्रवाह !!

विचित्र कोमलता मेरे चित्त में मुखरित हो उठी। पग पग पर भावनाओं और अनुभूतियों का स्पन्दन ! मैं समझ नहीं पाई कि मुझे क्या हो गया है।

जब मटर और सरसों के फूल खिल जाते हैं, जब हरीतिम का वैभव धरती पर विखर जाता है तब मेरे सौन्दर्य की मुझे झाँकी मिलने लगती है।

विरह की लपंटों से मेरा मन जल गया और तू ताण्डव नृत्य में लीन हो गया। अब जो भस्मी तेरे तन में रमी थी वह मेरी ही भस्मी थी और जो मुण्डमाल तेरे गले में था वह सिर मेरा ही था। सर्वस्व त्याग की शिद्ध शिला पर बैठे निर्लिप्ति के पावन पर्वत पर स्थित मैं अभय होकर ताण्डव का दृश्य देख रही थी।

विरह गीत न० १५

वे उद्गीथ जो शून्य में शब्दायमान हो गये। वे फूल जो वन-वैभव के साथ ही चिर अपरिचित धूलि धूसरित हो गये। वह कली जो खिल न सकी; वह वेदना जो भेदन न कर पाई, ये मेरे संगी हैं।

ध्यानमग्न ! तू क्रियाशील रहता है। अनन्त गति-मान तू बाल-सुलभ चंचलता में विचरण करता है। तूने सभी अहंकारियों का अहंकार चूर कर दिया है। तू केवल प्रेम का ही मूल्यांकन करता है। गिरों को उठाते हुए और पीड़ितों को दुलारते हुये मैंने तुम्हें देखा है।

तेरे संग अपने आप का पता नहीं लगता। शब्द मूक हो जाते हैं। और तुमसे दूर हटते विरह की प्रचण्ड अग्नि तो मार मार कर जीवित कर देती है, जला-जला कर सवाँर देती है और मिटा मिटा कर बना देती है।

सारस, चकवा, कोकिल और हंस तेरे विरह में निरन्तर व्याकुल होकर बोलते हैं। शुक, तितर, चातक, पारावत और मोर सभी तेरी याद में विरहाकुल होकर ध्वनि करते हैं।

विरह गीत न० १६

जब अहंकार-शून्यता आई तो जीवन और जगत बदला हुआ दीख पड़ा। दुख का काँटा सदा के लिये निकल गया। जबसे तेरे पावन प्रेम का पुष्प खिला है। मन कम-रन्द तेरी मादक मनो-भावनी मद विह्वली आह्लादिनी शक्ति से पूर्णतः तृप्त होकर अमृत का स्राव करने लगी है। सभी बन्धनों को तो मैंने तोड़ दिया है किन्तु तेरे प्रेम में बँधने का गौरव अटूट है।

अब मैं पूर्ण समर्पण की वेला में शरणागति की गोद में बैठ अनन्य प्रेम की शिलापट्ट पर 'सोऽहम्' मंत्र लिखती हूँ।

न तो मैं पहले कुछ थी न अभी कुछ हूँ। पहले भी तू ही था और अब भी तू ही है कर्मों को शून्य करने की शक्ति भी तेरी ही है।

प्यारे! तेरी याद में मेरी सहेलियाँ झुलसती हैं। उनके शरीर में ऐसी विह्वलता होती है कि सर्प की भाँति वे अपनी पीठ को बिस्तरे से रगड़ डालती तथा लम्बी लम्बी सांसे लेती हैं।

विरह गीत न० १७

जब संसार के सभी आश्रय छिन्न भिन्न हो गये तब मैं तेरी गोद में थी। जिस परमाणु से कोटि चैतन्य, राधा एवं मीरा जन्म ले सकती हैं उसके पावन प्रभाव को मैंने निकट से देखा।

अनन्त कोटि सूर्य, अनन्त कोटि ग्रह नक्षत्र भी तेरी महिमा के ही गीत गाते हैं और अनन्त कोटि कण्ठों से तेरा ही स्वर मुखरित होता है।

हे प्रेम के देवता! तेरा वह बाल रूप कितना मोहक कितना सुहावना और कितना लुभावना था।

उस रूप का प्राकट्य होते ही मुझे उत्तेजना-सी हो गई और मंत्र-मुग्ध होकर मैंने तेरी त्वचा को स्पर्श किया

किन्तु मेरी अंगुलियाँ उस पर टिक नहीं सकीं। तेरी त्वचा अत्यन्त ही मुलायम थी। तेरा रूप कोटि कामदेव को लज्जित कर देने वाला था। जब जब तेरी याद में मैं मूर्छित हुई अज्ञात भाव से तू मुझे सम्भालता रहा। मेरे मन में तेरे विरह को सम्भालने की क्षमता नहीं है। मेरे शरीर में तेरे बल को आँकने की क्षमता नहीं है और मेरी वाणी में तेरी व्याख्या की क्षमता नहीं है, क्यों कि तेरे निकट जाते ही अपना सब कुछ खो जाता है।

विरह गीत न० १८

री बावली तू न रो! तेरा प्रियतम आने ही वाला है। तेरे विरह ने अग जग को अपनी अग्नि से झुलसा दिया है। जीव-जन्तु सभी तेरे विरह-बाणों से बींध गये हैं।

जिसने चराचर पर करूणा की वर्षा की है। जिसने अपनी करूणा की गोद में समस्त सृष्टि को धारण किया है वही तेरा आँसू पोछेगा। जिसकी करूणा से ग्रह नक्षत्र अपनी गति नहीं छोड़ते। वन वृक्ष हरी डालों फलों और फूलों से लद जाते हैं सागर धरती पर दूर दूर जाकर बरस जाता है। वही तुम पर भी करूणा करेगा। वह रोतों को हँसाता है, गिरतों को उठाता है और पीड़ितों को दुलारता है।

तेरे शरीर में मांस और हड्डियों में जितना वजन है उतने ही आँसू तुमने बहाये हैं तुमने अनमोल को खरीद लेने बराबर मूल्य चुका दिया है। तेरे अस्थि पिंजरों को देखकर

उसका वज्र हृदय जरूर ही पिघल जायेगा। तेरा प्रेम उसकी सबसे बड़ी उपासना है। तेरा प्रेम उसकी सबसे अच्छी खोज है। तेरा प्रेम अत्यन्त ही बलवान है। तेरा सिर जहाँ झुकेगा वहीं उसके चरण होंगे। तू जहाँ भ्रमण करेगी, वहीं उसका देवल होगा।

विरह गीत न० १६

जगत् की समस्त विषमताओं के सहस्त्रों फणिधरों के मस्तकों पर चरण रख तूने नृत्य किया है।

मेरे सिर की वे गागरियाँ जो पाप और पुण्य से पूरित थीं उन्हें तूने ज्ञान की कंकड़ियों से फोड़ दिया है।

विश्व का मन्थन कर सत्य की चोरी करने वाले माखन चोर? तूने मेरे कर्मों की कलाइयों को मरोड़ कर सदा के लिये कर्म-बन्धनों से मुक्त कर दिया है।

मेरे मन-गोवर्धन को धारण करने वाले मन-मोहन अब माया रूपी जल से मुझे किंचित भी भय नहीं है।

प्यारे! शब्दों की चोट कर तू शीघ्र ही शब्दातीत हो जाता है। भावनाओं को मूर्छित कर तू तुरत ही भावातीत हो जाता है और कल्पनाओं को छेड़कर निर्विकल्प बन जाता है। तेरा विरह बड़ा ही अनोखा है। तूने अपनी मनमानी कर मेरे अज्ञान का आवरण चिरहरण कर लिया है जिससे मुझे अपना विस्मृत आत्म-स्वरूप मेरे समक्ष अब पूर्ण-रूपेण प्रकट हो गया है।

विरह गीत न० २०

जब मुझे कोई सताता है तो तेरी भृकुटि उसपर वक्र हो जाती है। तू उसके प्राणों को खींच लेता है तथा अपने प्रचण्ड क्रोध की ज्वाला में उसकी हड्डियों तक को चूर चूर कर डालता है।

मैं उसके प्रति तुमसे प्रार्थना करती हूँ। "नादान है। तेरी महिमाओं से अनभिज्ञ है। इसे क्षमा कर दो।

किन्तु तू मेरी भी बातों को ऐसे अवसरों पर जब तब ही सुनता है। मेरे लिये तू ऋतुओं को बदल डालता है तथा प्रकृति को मेरे अनुकूल बना डालता है। मेरे लिये तू असम्भव को भी सम्भव कर डालता है।

प्यारे! तुम्हें जानना बहुत ही कठिन है अतः भोले भाले युवक युवतियां तुम्हें न जानकर यदि मुझ पर कटाक्ष करते हैं तो उनका क्या कसूर है।

तुमने हमारे अहंकारों को रौंद कर हमारे हृदय को अपना आसन बना लिया है।

प्यारे! यदि तू मुझे कुछ देना चाहता है तो उन्हें क्षमा कर दे जो मुझसे शत्रुता रखते हैं क्योंकि उनकी शत्रुता एकाङ्गी है और अब तीनों लोकों में मेरा कोई भी शत्रु नहीं है।

विरह गीत न० २१

मैं पंछी बनकर तेरे विरह में रो रही थी जाग्रत में तथा स्वप्न में तेरा विरह एक-सा प्रचण्ड रहता है। तेरा

प्रेम-गीत सुनकर मेरी हड्डियाँ काँप जातीं तथा सारा शरीर झकझोर जाता है।

प्यारे ! तू मेरे जन्म जन्म का संगी है। मुझे वरण कर स्वयं तूने अपने प्रेम का मुझे दान दिया है। अपने अनेक रूपों में तू मेरे समक्ष प्रकट् हो गया। मुझे सन्देह हुआ कि कहीं मैं पागल तो नहीं हो गई हूँ क्योंकि तेरे विचित्र स्वरूप मेरे सामने प्रत्यक्ष थे। मैंने समझा मेरी आंखों में कुछ हो गया है और हर प्रकार से डाक्टर ने मुझे स्वस्थ घोषित किया और दबी हुई आवाज में कहा "हालोसीनेसन" अर्थात भ्रम की विमारी मालूम होती है। डाक्टर ने कहा कि कुछ भी दीख पड़े सोचना चाहिए कुछ भी नहीं दीखता। मैंने विचार किया कि वर्ग की परीक्षा में मैं प्रथम होती हूँ। गणित के कठिन प्रश्नों को हल कर देती हूँ। अच्छा लेख लिख लेती हूँ। आखिर यह पागलपन केवल एकही दिशा में कैसे सीमित है। मेरे सगे सम्बन्धियों ने मुझे पथ-भ्रष्ट करने के लिये खूब समझाया किन्तु मैं अपने पथ पर अडिग थी।

तूने अपने प्रेम का झंडा मेरे मस्तक पर गाड़ दिया है जो सदैव फहराता रहता है और मैं रहती हूँ संसार से वेखबर।

प्रसंग वश

अन्ध भवंरा गुनगुनाया,
मधु मदालस हार देकर।
आ गया पतझार मुरझा,
मैं किसी का प्यार लेकर।
विरह मेरा पंथ मुझको छेड़ता संसार क्योंकर। (आत्मानन्द)

उन्माद कहिये, विक्षिप्ति कहिये या प्रेमाभक्ति की भाव भंगिमाएं। एक अलौकिक दिव्यानुभूति अवश्य होगी जो सहस्त्र सहस्त्र धाराओं में किसी के समक्ष समर्पित होती है।

गाल गोरे पीत पत्ते,
जल कणों से नित्य धोते।
सिहर सिहर समीर के संग,
चुम्बनों में लीन होते।
मैं विहंगम मुक्त, मुझको छेड़ता मधुमार क्योंकर।
(आत्मानन्द)

प्रकृति की दिव्य छटाएं वासना से सनी न होकर पुरुष की ओर इंगित हैं, जिसमें आत्माकार वृति का सहज स्पन्दन एवं मर्मभेदी सिहरन है। मीरा और राधा, सोलहों शृंगारों से सज्जित हैं किन्तु उनकी पग-ध्वनि उस पावन

रंगभूमि में अंकित हो रही है, जहां शिव-शक्ति का संयोग है। वासना का वैभव उन पावन चरणों पर अर्पित है जिसके स्पर्शमात्र से पाषाण भी देदीप्यमान हो उठते हैं।

गगन उर में खिल चुका हूँ,
वेदना का भार बनकर।
चपल चपला हांस में,
पलभर ज्वलन्त प्रकाश भरकर।
मैं विषम मजधार मुझको, छेड़ता पतवार क्योंकर।

(आत्मानन्द)

उन अनुभूतियों की अजस्र धारायें हैं जिनको रोकने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं है जो आपही शब्दातीत होती हैं. भावनायें हैं जो शीघ्र ही भावातीत हो जाती तथा कल्पनाएं हैं जो सहज में ही चित्त को निर्विकल्प कर देती हैं।

उन दिव्य अनुभूतियों की जो कृपा कटाक्ष की अहैतुकी देन हैं, आपके समक्ष बाल सुलभ अभिव्यक्ति है। "स्वान्त सुखाय" तो है ही किन्तु "बहुजन हिताय" की प्राकृत प्रेरणा भी विगलित है।

नयनों में मेरे बादल जब,
सतरंगे जाल बिछाते हैं।
चपला आलिंगन भरती है,
पंछी कलगान सुनाते हैं।
मैं जाने को मजबूर कहीं, ये छेड़ हमें क्यों जाते हैं।

(आत्मानन्द)

वह पाञ्चजन्य, जिसकी ध्वनि मात्र से चिरन्तन सत्य का उद्घोष होता है, वह वीणा जो बजते ही हृदय को अमर कर देती तथा वह राग जो वैराग्य को अभय पद में स्थित करता है इन विरह गद्य-गीतों में निनादित है।

सत्य से तदाकार होकर रहस्यानुभूतियों का घूंघट उठाया गया है। किसी ने लाज भरे भावों से मुँह को आवरण से अवगुंठित किया था। जिसे हठपूर्वक छेड़कर घूंघट के पट को खोल दिया गया है। झांको आपभी देखिये और मैं भी कभी अपने को तथा कभी अपने में आये हुए मेहमान को देखता हूँ।

जो चन्द्रमा और सूर्य में, औषधियों और वनस्पतियों में धरती में पवन और पानी में "समोऽहम् सर्व भूतेषु" को प्रकाशित करता है. शब्द और भाव उसी के हैं यदि कुछ अपनापन है तो उसी का ही और सबकुछ सर्वस्व समर्पण की मधुवेला में। न तो किसी का प्रतिबिम्ब पड़ा है और न किसी से प्रेरणा मिलती है जो कुछ मिला है उसी से मिलता है जिसका सब कुछ है ही। न तो कोई मार्ग है और न तो कोई मजहब ही है, क्योंकि उसे जिसे प्रेम कहते हैं न तो कोई नियम पसन्द है और न तो कोई बन्धन ही चाहे वे अच्छे से अच्छे ही नियम क्यों न हो प्रेम उसे स्वीकार नहीं करता। क्योंकि प्रेम निर्बन्ध है और वे लोग जो नियमों में

बँधे हैं उन्हें भी निर्बन्ध कर देता है।

प्रियतम का घर दूर है। प्रेमनगर की राह कठिन है। झीनी भी है और कामनाओं का बोझ लिये मजाल नहीं कि कोई पांव तक रख दे।

विरहा करुं प्रचण्ड भस्म संसार हो
धरती और आकाश सभी अंगार हो

(आत्मानन्द)

किन्तु "कि जाने वह पीव कि विरहन जानती"

किसी पागल ने लिखा है और कोई पागल ही समझ सकता है। अनादि विरह जीवों का जीवत्व तो है ही उसे जगने की देरी है। पहाड़ी नदी के लिये मार्ग बनाने की आवश्यकता नहीं। वह अपना डगर आप ढूँढ़ लेगी।

आत्मानन्द की अभिव्यक्ति शब्दों से असम्भव है "गूंगे का गूड़" समझिये। इसलिए मौन होता हूँ मौन, जहाँ शान्ति हो गई है और समाधि भी समाधिस्त। तथास्तु।

आत्मानन्द

प्रस्तावना

साहित्य 'जीवन-सागर के मन्थन से प्राप्त मंगल-श्री' है तो 'मानवता की उच्चतम अभिव्यक्ति' भी। यह एक ओर मनोविनोद का ललित उपहार है तो चिरंतन का आधार भी। कलाकार आत्मा की वस्तु और वस्तु की आत्मा की तलाश में बिलकुल खो जाता है, उसकी सौन्दर्य-चेतना पूर्ण रूप से सक्रिय हो रम्य की खोज में सक्रिय हो जाती है, हृदय प्रेमजन्म विरह तीखी अनुभूति से छटपटाने लगता है, आत्मा अनन्त रमणीय से चिर-मिलन के लिए आकुल-व्याकुल हो उठती है तो भावविभोरता की इस अवस्था में जब विश्व-व्यापी विराट् चेतना से स्पन्दित जीवन के साथ कलाकार एकात्म या तदाकार हो जाता है साहित्य की कोई कृति फूटती है। इसलिए मैंने एक जगह साहित्य को 'सोऽहम' भाव की सरस अभिव्यक्ति और मानवता का हृदय कहा है।

साहित्य कलाकार की मनोभूमि के अनुसार कई तरह के होते हैं—शक्ति का साहित्य, आनन्द का साहित्य, बुद्धि का साहित्य, कल्पना का साहित्य आदि कई नामों से इन्हें अभिहित किया गया है। कलाकार का मायालोक मोटामोटी दो तरह का होता है। प्रथम शाश्वत, चिरंतन और सनातन कहें तो दूसरे को क्षणिक, अद्यतन और नूतन कह सकते हैं। प्रथम जहाँ पुरातन होकर भी प्रतिक्षण नित्य नूतन बना रहता है वहाँ दूसरा सर्वथा नूतन होने पर भी बासी और

ऊबाउ हो जाता है। इसलिए पंडितों ने साहित्य को नित्य-अनित्य, शाश्वत-अशाश्वत दो श्रेणियों में बाँटा है। ऊपर का विवेक नित्य और शाश्वत साहित्य के लिए ही है, अनित्य आर अशाश्वत साहित्य के लिए नहीं।

साहित्य चाहे नित्य हो या अनित्य पर रचना का एक क्षण होता है, गजानन माधव मुक्तिबोध और हंसकुमार तिवारी आदि ने अपने- ढंग से इसकी व्याख्या की है।

साहित्य-रचना का यह क्षण यदि केवल परिवेश, बुद्धि और प्रकृति के एकात्मा का क्षण रहा, हो ललित कृति का जन्म तो अवश्य होता है पर उसमें औदात्य एवं मानव-मूल्यों के स्थापन की स्थायी संभावना का अभाव रहता है। 'समाज-सत्य का मर्म' भी अच्छी तरह प्रकट नहीं हो पाता। किन्तु, कलाकार की आत्म-चेतना यदि ऊपर्युक्त के साथ किसी अनन्त रमणीय, पावन एवं मङ्गलमयी सत्ता से एकात्मता स्थापित करने में समर्थ होती है तो यह क्षण बड़ा ही मंगलकारी होता है क्योंकि संपूर्ण उदात्ततत्वों के उद्दाम प्रवाह से परिप्लावित रचना जन्म लेती है जिसमें युगबोध के मनोहर स्वर के साथ व्यापक एवं विराट् आत्मबोध भी रहता है। ऐसी रचना ही मानव-मूल्यों की सुस्थापना में सहज समर्थ हो पाती हैं। संत तुलसी ने ऐसे ही नित्य साहित्य को गंगा की पवित्र धारा कहा है—'सुरसरि-सम सब कँह हित होई।' उनके विचार से अनित्य साहित्य से वाणी सिर धुन कर पछताने लगती है—'कीन्हें प्राकृतजन

गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ’

कवि मालर्मे ने कहा है—अपाहिजत्व की देवी ओ आधुनिक कल्पने ! मैं तुझे अपने जीवन की ये थोड़ी-सी पंक्तियाँ समर्पित करता हूँ जो कृपा के उन क्षणों में लिखी गयी हैं, जब तू ने मेरे भीतर सृष्टि के प्रति नफरत और नितांत न-कुछ के प्रति वंजर प्रेम का स्फुरण नहीं किया।

कवियों की एक वहुत वड़ी जमायत इस मालार्मीय विडम्बना का शिकार रही है। सृजन-कर्म ही आखिर क्यों ? इतने सारे कल्पना-विलास का क्या मतलब ? मालार्मे के समान ये सभी कवि अपने ऊपर पलायनवादी होने का आरोप लगाये हैं। जहाँ हैं वहाँ से कहीं चलने की छटपटाहट इनमें है जरुर, किन्तु मंजिल का पता न होने के कारण इनमें पूरा भटकाव है और भटकाव की वजह से ये पदाक्रान्त हो रिरियाते फिर रहे हैं—‘मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता।’ ‘अल्ला रे अल्ला, होता न मनुष्य मैं होता करमकल्ला’ तक इनकी निराशा और अनास्था पहुँच गयी है। अनित्य साहित्य की नियति का अन्दाज इसी से लगाया जासकता है

संत, भक्त, कवि ये सभी किसी न किसी अंश तक पलायनवादी रहे हैं। उनका पलायन बाहर से भीतर का पलायन है, स्थूल से सूक्ष्म का पलायन है। मंजिल और मनभावन की खोज के कारण इनमें कहीं भी भटकाव नहीं, वल्कि एक सुन्दर गत्वरता है। पीड़ा है पर घुटन नहीं, व्याकुलता है पर निराशा नहीं, विसंगति और संत्रास हैं पर

अनास्था और कुण्ठा नहीं। कारण स्पष्ट है—विराग के संगीत से सराबोर महामङ्गल की सृष्टि करनेवाला प्रेम। कबीर इसी के चलते 'राम का कूता' बनता है—

'कबिरा कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।,
गले राम की रासड़ी जित खैंचे तित जाउँ।'

'मनभावन' से जुड़े रहने के कारण ही इनमें कहीं भी मालार्मीय विडम्बना नहीं है।

न्यूमैन ने लिखा है कि पुरुष यहाँ चाहे जितना बलवान दीखे पर परमात्मा यहाँ उसकी कुछ नहीं चल सकती। कोई नारी के रूप में ही परमात्मा तक पहुँच सकता है। भारतीय ऋषियों ने तो प्रकृति-पुरुष भेद की कल्पना द्वारा इसे बहुत पहले और विशद् रूप से समाख्यात कर दिया है। इसी कारण बूढ़े कबीर को भी 'राम की बहुरिया' और उनकी 'छुटकी लहुरिया' बनने का शौक चर्राया था। 'राम भरतार' के प्रेम में पगते ही कबीर की मुग्धा आत्मा को बोध हुआ था—'चूनर में दाग कहाँ से लागल।' तभी वे 'लाली मेरे लाल की जित देखौं तिति लाल' का अनुभव कर 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' की स्थिति पा सके थे। जायसी को सो साफ दीखाथा—'उन बानन्नअस को जो न मारा,वेधि रहा सिगरौ संसारा।' तुलसी 'सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुगपानी' की और सूर 'जित देखौं तित स्याममयी है' की दृष्टि पा सके थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसी दृष्टि को पाने की ललक में मचल पड़े थे।

क—आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार
चरण धूलार तले।
सकल अहङ्कार हे आमार,
डुबाओ चोखेर जले॥
ख—कोन वेदनाय बुझि ना रे,
हृदय भरा अश्रुभारे।
परिये दिते चाइ काहारे,
आपन कण्ठहार॥

यह दृष्टि खुदी को बुलंद करनेवाले हर किसी को मिल सकती है और उसका जलवा दीख सकता है—

'उसे जलवा दिखा देने से कब इनकार होता है।
नजरवाला कोई आवे अभी दीदार होता है॥'

और, पूज्य गुरुदेव स्वामी आत्मानन्द जी 'परमहंस' के इन गद्य-गीतों में 'जलवा' को देखने की छटपटाहट और एकबार देखकर अनादि विरह की अनन्त वेदना विरह-पुष्पाञ्जलि के रूप में प्रकट हुई है।

ब्रह्म-विरह की लपटों से जब कलाकार की ग्रन्थियाँ जल गयीं, संशय मिट गये तो कलाकार के भीतर की तपोरता पार्वती ने शिव के ताण्डव के दर्शन किए और सर्वस्व त्याग की शिद्धिशिला पर बैठे निर्लिप्त के पावन पर्वत पर स्थित अभय होकर ताण्डव का दृश्य देखने में लीन हो गयी और शिव के तन-मन बाहर-भीतर सर्वत्र अपना ही पावन अवशेष देख-देख रीझती रही। 'पूर्ण समर्पण की

इस वेला में शरणागति की गोद में बैठ अनन्य प्रेम के शिला-पट्ट पर 'सोऽहम्' मंत्र लिखती रही। जब विरह ने अपनी तीखी लपटों से अंग-जग झुलसा दिया, समस्त ब्रम्हाण्ड परमात्मा के विरह-बाणों से बिंध गया तो कलाकार को करुणा का महासागर लहराता दीखा और उसके भीतर की राधा मचल पड़ी। फिर तो उस बाल-छैले ने कमाल कर दिखाया—जगत् की समस्त विषमताओं के सहस्रों फणवाले कालिय के मस्तक पर चरण रख बंशीवादन और नृत्य! मानवीय संवेदनाओं और जीवनानुभूतियों का मंथन कर माखनचोरी! कर्मों की कलाइयों को मरोड़ देना और पाप-पुण्य की माया-गगरियों को ज्ञान की कंकड़ियों से फोड़ते जाना! प्रेमदेव की न मनोहर लीलाओं में कलाकार खो गया और प्रेम-संमूर्च्छित, भावातीत अवस्था में पाया कि 'यह तो घर है प्रेम का' खाला का घर नाहीं।'

और 'यह तो घर है प्रेम का' आपके सामने है। प्रेम का पूर्ण समर्पित संगीत! आत्मा के आरोहण के ध्वनिबिम्बों से सरस! जीवन के शाश्वत मूल्यों से महमह! बालजीवन के लहकते शूल ही प्रेमरूपी कल्पतरु के फूल बनकर महक उठे हैं मानो! समर्पित संगीत और जीवन के ये सरगम ये गीत चेतना के प्रोज्ज्वल वरदान हैं, नित्य साहित्य के अनमोल रत्न हैं और हैं मानवता के सुन्दरतम भावक्षेत्र जहाँ पहुँचकर मनुष्य भूमि से भूमा तक के आनन्द-क्षेत्रों को आत्मसात् कर सकता है।

स्वामी जी के प्रवचनों के संग्रह को और भी मंगलकारी वरदान सिद्ध होंगे। इनका संग्रह और प्रकाशन आज के हर प्रबुद्ध नागरिक एवं भागवत का परम कर्त्तव्य है।

रामनरेश मिश्र 'हंस'

जहाँ अमृत का सागर लहराता है,
जहाँ मृत्यु की छाया तक नहीं पड़ती है
तू उसी रंग-स्थली में मेरे संग महारास रचाता है
जिस आनन्द की तूने वर्षा की है
उसका कहीं अन्त नहीं है···